✧ ओ३म् ✧

आनन्द कथा माला-१

आनन्द गायत्री-कथा

श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी की मनोहर कथा

गोविन्दराम हासानन्द

१७वीं बार] अगस्त, १९७८ [मूल्य : २.००

कृतज्ञता-प्रकाश

[पूज्यपाद महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज का देहावसान अक्टूबर १९७७ में हो गया। यह भूमिका पुस्तक के प्रथम संस्करण से चली आ रही है, इस भूमिका को उसी सन्दर्भ में पढ़ें]

श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज (जिनका पूर्वाश्रम का नाम श्री खुशहालचन्द जी खुर्सन्द था) आर्य जगत् के एक प्रसिद्ध संन्यासी व नेता हैं। संन्यास की दीक्षा लेने के पश्चात् से आप योग-साधन में भी विशेष संलग्न हैं।

श्री आनन्दस्वामी जी महाराज जहाँ सरल और प्रभावशाली वक्ता हैं वहाँ वे एक सरल व प्रभावशाली लेखक भी हैं। 'प्रभु-भक्ति', 'प्रभुदर्शन', 'तत्त्वज्ञान' आपकी रचनाओं में प्रमुख पुस्तकें हैं जो साधकों को सुख-शान्ति प्रदान करती हैं।

'गायत्री-कथा' महात्मा जी का संग्रह है जो कि उर्दू पत्र 'मिलाप' में प्रकाशित होने के प्रवचनों बाद पुस्तक-रूप में प्रकाशित होकर हाथों-हाथ बिक रहा है।

हिन्दी आर्यभाषा-भाषियों की इच्छा तथा माँग देखकर मैंने श्री स्वामी जी से प्रार्थना की कि इसको हिन्दी में प्रकाशित करने को मुझे आज्ञा प्रदान करें। स्वामी जी महाराज इसलिए आज्ञा देने से भी कुछ झिझके कि उर्दू की पुस्तक लागत-मात्र मूल्य में बिक रही है। अनुवाद से पुस्तक का कलेवर बढ़ जाएगा, लागत ज्यादा आएगी, ग्राहकों को वेचने में लाभ नहीं होगा, आप एक व्यवसायी हैं। इस पर मैंने प्रार्थना की कि मैं भी इसकी लागत के अनुसार ही मूल्य रखूंगा। इसपर स्वामी जी ने प्रसन्न होकर

आज्ञा प्रदान की। अतः मैं श्री स्वामी जी तथा 'मिलाप' पत्र के अध्यक्ष श्री रणवीर जी का भी आभारी हूँ जिन्होंने इसे हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने पर प्रसन्नता प्रकट की।

इस स्थान पर श्री विष्णुदत्त जी शर्मा शास्त्री एम० ए०-बी० टी० का भी आभार मानता हुआ उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने परिश्रमपूर्वक अपना समय देकर यथाशीघ्र अनुवाद कर दिया।

प्रकाशक
गोविन्दराम हासानन्द

ओ३म्

पहला दिन

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

नौ द्वारे का पींजरा, ता में पंछी पौन।
रहने में अचरज बड़ा, गये अचम्भा कौन ॥

यह है मनुष्य-शरीर की आकृति। इस पिंजरे में नौ दरवाज़े हैं, सब खुले हुए। इसमें प्राण-रूपी पक्षी रहता है। द्वार खुले हैं, तब भी वह जाता नहीं—आश्चर्य की बात तो यह है। चला जाए तो इसमें विचित्रता क्या है? परन्तु मनुष्य के इस शरीर को 'महाभारत' के अन्दर सबसे उत्तम तथा सबसे बड़ा भी कहा गया है। 'महाभारत' कहता है—"सुन, तुझे रहस्य की एक बात बताऊँ—मनुष्य से अधिक उत्तम व श्रेष्ठ और कुछ नहीं।" और इसी शरीर के विषय में, जिसे 'महाभारत' में सबसे उत्तम तथा सबसे बड़ा कहा गया है, जिसे कवि ने नौ द्वारों का पिंजरा कहा, आजकल के विज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि यह कुछ भी नहीं। इसमें अधिक-से-अधिक एक छटाँक गन्धक है, जिससे दियासलाई की सौ तीलियाँ बन सकती हैं; केवल इतनी मेदा (चरबी) है कि साबुन की सात टिकियाँ बन सकती हैं, एक सेर खाँड है, दो पाव अमोनिया, दो छटाँक नमक, छत्तीस सेर पानी और इतना लोहा कि जिससे दो इञ्च लम्बी कील बन सके। यह हिसाब ग़लत नहीं, वास्तव में मनुष्य के शरीर की असलियत यही है।

तब 'महाभारत' ने इस शरीर को सबसे बड़ा और सबसे उत्तम कहा तो क्यों? क्यों 'महाभारत' के ऋषि ने कहा—"देख, तुझे रहस्य की एक बात बताता हूँ—संसार में मनुष्य-शरीर से उत्तम और कुछ नहीं है।"

किन्तु केवल 'महाभारत' ने ही यह बात नहीं कही। 'अथर्व-वेद' के १८वें काण्ड के दूसरे सूक्त में, ईश्वर की अमर कविता में जिसे वेद कहते हैं, उस कविता में जो कि न कभी बूढ़ी होती है, न मरती है, इस शरीर का अत्यन्त सुन्दर वर्णन आया है। अर्थ यह है—

"वह कौन-सा महान् शिल्पी है, जिसने इस शरीर का निर्माण किया ?"

ज्यों-ज्यों इस शरीर को देखिये, त्यों-त्यों आश्चर्य होता है— इसको कैसा बना दिया ! इतने रन्ध्र हैं इसमें, इसके बावजूद इसके अन्दरवाला भागकर कहीं जाता नहीं।

'नौ द्वारे का पींजरा, ता में पंछी पौन'

किन्तु केवल नौ द्वार ही तो नहीं; इस शरीर के अन्दर दिन और रात में एक लाख तेरह हज़ार बार हृदय धड़कता है। इसमें कुछ कम बार साँस आता और फिर अन्दर चला जाता है। बाहर ही क्यों नहीं रह जाता ? निकल क्यों नहीं जाता ? कितना आश्चर्य होता है यह सब-कुछ सोचकर ! किन्तु केवल यही क्यों ? इस शरीर को बनानेवाले की कारीगरी किसी भी तरह ग़लत नहीं होती। दर्पण में अपना मुख देखिये—यह आँख, नाक, मुँह, सब-के-सब इकट्ठे एक स्थान पर क्यों रख दिये बनानेवाले ने ? तनिक विचार कीजिये। यदि ये एक स्थान पर न होते, तो क्या होता ? सोचिये—आँख यदि सिर के पीछे होती, नाक सिर के ऊपर बालों में होती और मुँह वहीं होता जहाँ अब है, तो क्या होता ? यह देखने के लिए कि खाने को क्या है, हम हाथ में पकड़े ग्रास को सिर के पीछे ले जाते। यह देखने के लिए कि इसकी गन्ध कैसी है, सिर के ऊपर ले जाते। जितनी देर में वह मुँह के पास तक पहुँचता, कोई कुद्रव्य मिल जाता तो हमें पता न लगता। परन्तु मनुष्य-शरीर के बनानेवाले शिल्पी ने इन सबको एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। अब हाथ ग्रास लेकर ऊपर उठाता है, आँख देखती है कि इसमें कोई पतंगा, मिट्टी या कंकड़ तो नहीं

है ? और कोई ऐसी वस्तु तो नहीं जिसको खाना नहीं चाहिए ? आँख पास कर दे तो नाक सूंघती है—बासी तो नहीं, दुर्गन्ध तो नहीं ? तब ग्रास मुख में जाता है। वहाँ बत्तीस सिपाही बैठे हैं। ग्रास के एक-एक भाग का वे पूर्ण निरीक्षण करते हैं, एक-एक अवयव का। तीक्ष्ण तलवारें लेकर खड़े हैं। कोई भी कठोर वस्तु, कोई भी ऐसा पदार्थ जो उनके सामने सिर झुकाकर नर्म न हो जाए, उनके पहरे में से नहीं जा सकता। दाँत भी पास कर दें तो जिह्वा देखती है कि स्वाद कैसा है ? पदार्थ दूषित तो नहीं है ? पुराना गला-सड़ा तो नहीं है ? और जब यह आज्ञा दे दे तो गले में लटकता हुआ कब्ज़ा उसे पेट में जाने की आज्ञा देता है। इसकी आज्ञा के बिना प्रत्येक वस्तु के लिए इस शरीर के बाहर 'नो एडमिशन'—'प्रवेश निषिद्ध है' लिखा है। साधारण-सी बात है यह, किन्तु, सोचने पर कितनी बड़ी मालूम होती है ! इसीलिए इस शरीर को देखकर 'सबसे बड़ा तथा सबसे उत्तम' कहा गया।

'तैत्तिरीय उपनिषद्' में एक कहानी आती है कि संसार में जब सभी शरीर बन चुके तो ऋषियों और योगियों के सूक्ष्म शरीर इस संसार में आए। ईश्वर के बनाए हुए सभी शरीरों को उन्होंने देखा। घोड़े का शरीर, बैल का, हाथी का, दूसरे पक्षियों का। अन्त में उन्होंने मानवीय शरीर का निरीक्षण किया। देखते ही वे बोले—ये प्रिय हैं ; ये सुन्दर हैं ! तब इनमें उन्होंने प्रवेश किया। मानव-शरीर को उन्होंने अपना निवास-स्थान बना लिया। तभी से मानव-शरीर को ऋषिभूमि कहते हैं। सात ऋषि इसमें रहते हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन तथा सातवीं बुद्धि।

परन्तु वेद और उपनिषद् इस शरीर को केवल ऋषि-भूमि कहकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। ऋषि-भूमि कहने के बाद इसे देवपुरी भी कहा। 'आठ चक्र नौ द्वारोंवाली देवताओं की पुरी अयोध्या है यह।' ऐसा इसका उल्लेख किया है। इस प्रकार इसको देवपुरी

कहा गया। परन्तु ऋग्वेद ने इनसे भी आगे बढ़कर इसे ब्रह्मपुरी कहा। अपने मधुर शब्दों में उसने घोषणा की, 'यह ब्रह्मपुरी है।' केवल यही एक शरीर है जिसमें परमात्मा के दर्शन होते हैं। यही एक शरीर है जिसमें आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। ऐसा है यह शरीर, यह नौ द्वार का पिंजरा। इसीलिए इसको सबसे उत्तम कहा गया है। किन्तु हाय रे मानव ! इतनी अमूल्य वस्तु को प्राप्त करके भी तू इसके मूल्य को परख नहीं सका।

सुनो ! एक था दुर्ग। वह दुर्ग अति विशाल था। चौरासी लाख उसके द्वार थे और एक के अतिरिक्त सभी द्वार बन्द। एक निर्धन नेत्रहीन प्राणी उसमें कारावास भोग रहा था। वह खुजली के रोग से ग्रस्त, नेत्र-विहीन था। बाहर जाने का मार्ग मालूम नहीं था। किसी ने दुःखी देखकर पूछा—"क्या चाहते हो ?" अन्धे ने हाथ जोड़कर कहा—"इस दुर्ग से बाहर जाना चाहता हूँ। इसके दुःखों से दुःखित हो चुका हूँ।" पूछनेवाले को करुणा आ गई—"सुन, अभागे ! चौरासी लाख द्वार हैं यहाँ, किन्तु एक के अतिरिक्त सभी बन्द हैं। उनके साथ टकराने से कुछ लाभ नहीं। इस दीवार पर हाथ रखकर चलता जा। जहाँ पर खुला द्वार होगा, वहाँ से बाहर निकल जाना।" अन्धे ने कहा—"मेरा हाथ दीवार पर रख दो।" और वह चलता गया, चलता गया। एक द्वार के बाद दूसरे द्वार की ओर बढ़ता गया। वह भी बन्द, यह भी बन्द, खुजली होने लगी। दीवार से हाथ उठाकर खुजाने लगा और चलता गया। इस प्रकार द्वार निकल गया; परन्तु फिर जब हाथ रक्खा तो द्वार बन्द था। फिर चलता गया। सारा चक्कर काटकर खुले द्वार के पास पहुँचा, तो फिर खुजली, फिर द्वार निकल गया। इस प्रकार वह चलता जाता है।

आत्मा ही वह नेत्रहीन व्यक्ति है। चौरासी लाख द्वार, चौरासी लाख योनियाँ हैं। खुला द्वार मानव-शरीर है। खुजली वह वासनामय अग्नि है, जो मनुष्य को यह देखने नहीं देती कि द्वार खुला है। खुजली करने में स्वाद आता है अवश्य, रक्त-स्राव

होने लगता है, व्रण भी बढ़ जाता है, किन्तु आकांक्षाओं की यह खुजली विश्राम तो लेने नहीं देती। इससे बच सको तो द्वार खुला है, बाहर चले जाओ। नहीं तो घूमते रहो इसी दुर्ग में।

यह है मानव-शरीर की उत्कृष्टता। यह है वह कारण जिससे इसको सबसे बड़ा और सबसे श्रेष्ठ कहा गया। इसको ऋषि-भूमि, देवपुरी और ब्रह्मपुरी कहा गया। यह मोक्ष का द्वार है। कई लोग इस बात को सुनकर कहते हैं—'हाय! हमने तो यह जीवन व्यर्थ खो दिया।' कई लोग अपने जन्मदिवस मनाते हैं, प्रसन्न होते हैं कि अब चालीस वर्ष के हो गए, अब पचास के, अब साठ के। मैं इनकी प्रसन्नता देखता हूँ तो चकित होता हूँ—अरे! प्रसन्नता किस कारण से? जिस अमूल्य जीवन को नष्ट कर दिया, उसकी प्रसन्नता मनाते हो? प्रसन्नता के अतिरिक्त यह सोचो कि शेष क्या है? चालीस, पचास, साठ वर्ष तुमने खुजली करने में बिता दिये। खुला द्वार निकले जाता है। हो सके तो सँभालो! बाहर चलने की तैयारी करो। अन्यथा फिर वही बन्द दुर्ग है। फिर वही तिरासी लाख निन्यानवे हज़ार नौ सौ निन्यानवे द्वार हैं।

यह शरीर बहुत समय बाद मिलता है और बहुत कठिनता से प्राप्त होता है। यह त्याग के योग्य नहीं है। यह देवपुरी, ऋषिपुरी और ब्रह्मपुरी है। यह मन्दिर है, जिसके अन्दर प्रभु का दर्शन होता है। इसकी रक्षा करो अवश्य! इसको तुच्छ समझकर नष्ट न होने दो। यह तुम्हारे अन्तिम ध्येय तक पहुँचने का साधन है। यह इसलिए मिला है तुम्हें कि उस मन्दिर में पहुँच सको, जहाँ असीम कल्याण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

परन्तु आजकल के विज्ञानवेत्ता तो यह भी नहीं जानते कि यह शरीर क्यों मिला है? उनके लिए यह शरीर थोड़ी-सी गंधक, थोड़ी-सी खाँड, थोड़ा-सा अमोनिया, थोड़े लोहे और छत्तीस सेर पानी के अतिरिक्त कुछ नहीं। वे शरीर को देखते हैं, उसके आन्तरिक तथा बाह्य रूप को देखते हैं, परन्तु उससे आगे नहीं

बढ़ते। यह नहीं जानते कि उसमें एक और पदार्थ भी है—'आत्मा' जो इस शरीर के अन्दर आकर कर्म की रस्सी को पकड़कर कभी ऊपर उठता है, कभी नीचे गिरता है। गिरे तो इतना गिर जाता है कि पतन की सीमा नहीं रहती। उठे तो इतना चढ़ जाता है कि ऊँचाइयाँ भी अभिभूत हो जाएँ। ये सब बातें शरीर में होती हैं—'आत्मा का पतन तथा उत्थान।' इसलिए शरीर सबसे श्रेष्ठ है। आत्मा के कारण वह बड़ा है और आत्मा के कारण ही श्रेष्ठ है।

जो लोग आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते, उनसे मैं पूछता हूँ कि बताओ—आत्मा के बिना यह शरीर है क्या? मैं ऐनक पहनता हूँ, किन्तु अनेक व्यक्ति ऐसी ऐनक पहनते हैं जो कि पढ़ने के समय लगाते हैं। बहुधा वे कहते हैं, 'अच्छी ऐनक लाना भाई!' ठीक दिखाई नहीं देता।' अब क्या ऐनक देखती है? आँख की पुतली को बन्द करके उसपर एक नहीं, चार ऐनकें लगा दीजिये, कुछ दिखाई नहीं देता। आँख न हो तो ऐनक व्यर्थ है। तब क्या आँख देखती है? नहीं; आपने कई बार देखा होगा कि कई लोगों की आँख अच्छी-भली होने पर भी वे देख नहीं पाते हैं। आँख नहीं देखती। आँख के पीछे बैठी हुई एक और वस्तु देखती है। योगी लोग इसे रूप-तन्मात्रा कहते हैं; किन्तु मनुष्य संज्ञाशून्य हो जाए, उनका मन सो जाए तो रूप-तन्मात्रा भी नहीं देखती। वह तो केवल मन की सहायिका है। मन जागे तो वह जागती है, मन सो जाए तो वह सो जाती है। तब क्या मन देखता है? नहीं, मन के पीछे भी एक आत्मा बैठा है, वह देखता है। आत्मा चला जाए, तो न मन देखता है, न रूप-तन्मात्रा काम करती है, न खुली आँख को दिखाई देता है, न ऐनक किसी काम आती है। आत्मा प्रेरणा करे तो मन जागता है, मन जागे तो रूप-तन्मात्रा जागती है, रूप-तन्मात्रा जागे तो आँखें देखती हैं, आँखें देखें तो ऐनक सहायक होती है, नहीं तो ऐनक व्यर्थ है। फिर ऐनक और आँख [illegible] शरीर में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की यही दशा है।

नासिका साँस लेती है, जिह्वा से उच्चारण होता है, हाथ गति करता है, यह सब-कुछ आत्मा की प्रेरणा से ही होता है। आत्मा न हो तो सब-कुछ होकर भी कुछ नहीं रहता। आत्मा के कारण ही यह शरीर सबसे बड़ा तथा सबसे श्रेष्ठ है। वह चला जाए तो यही शरीर जिसे देवपुरी, ब्रह्मपुरी, ऋषिपुरी कहा गया है व्यर्थ होकर रह जाता है। तब हम सोचते हैं कि किसी-न-किसी प्रकार से इसे ठिकाने लगा दें। मरनेवाला मर जाए तो कुछ देर तक लोग उसके साथ लिपटे रहते हैं, कुछ देर तक रोते हैं, कुछ देर तक शोक करते हैं और फिर चुप होकर प्रतीक्षा करते हैं कि कब इस शव को उठाकर ले जाएँ। न ले जाएँ तो कहते हैं कि जल्दी करो, दुर्गन्ध उत्पन्न हो रही है।

हाय रे मनुष्य! कितना बड़ा है तू और कितना तुच्छ! वही शरीर, जिसको प्रेम से रक्खा जाता था, जिसको कुछ कष्ट होने पर ही सारा परिवार चिन्तित हो जाता था, जिसका सिर दुखने पर डॉक्टर, वैद्य, हकीम दौड़े आते थे, उसके विषय में अब कहते हैं—'ले जाओ इसे, अब जल्दी करो, जला दो!' किसी मनुष्य का बहुत अधिक अपमान करना हो तो उसे पितृघातक कहते हैं—'पिता को मारनेवाला'। इससे बड़ी शायद कोई गाली नहीं। किन्तु पिता के अन्दर से आत्मा निकल जाए तो बेटा अपने हाथ से उसे आग लगाता है। दो-दो मन के भारी लक्कड़ उसकी छाती पर रख देता है। सरकण्डों से ढाँप देता है। तब तो कोई उसे पितृघातक नहीं कहता। क्यों? इसीलिए कि यथार्थ तो निकल गया। यथार्थ के कारण ही यह शरीर सबसे बड़ा तथा श्रेष्ठ था। वह चला गया तो अब यह कुछ भी नहीं; किन्तु हम इसी यथार्थ वस्तु (पदार्थ) को बार-बार भूल जाते हैं। पंजाबी कहावत के अनुसार कई लोगों के लिए यह शरीर ही सब-कुछ बनकर रह जाता है—"जी ओ बेटा जी! तू ही पुत्र, तू ही धी।" ऐसा कहकर वे इसकी ही सेवा में लगे रहते हैं। मैं शरीर की रक्षा के विरुद्ध नहीं। इसकी रक्षा करनी चाहिए अवश्य! वेद भगवान्

भी इसकी रक्षा करने को कहता है। 'अथर्ववेद' ने इस शरीर को ऐसा रथ कहा है कि जो सुख देनेवाला है, जिसमें अमर आत्मा बैठा है, जिसको चलाकर आत्मा भगवान् के पास पहुँच जाता है। ऐसे रथ की रक्षा करनी चाहिए। शरीर की रक्षा करना हमारा धर्म है।

(इस समय स्वामी जी ने अपनी घड़ी को देखा। हँसते हुए बोले, "लो बीस मिनट तो यह शरीर ही ले गया। समय रह गया थोड़ा, अभी मुझे बहुत-कुछ कहना है।")

किन्तु यह शरीर इतना मूल्यवान् है कि इसका वर्णन ज़रूरी था। यह मानव-शरीर सबसे बड़ा सर्वश्रेष्ठ होता है उस समय, जब इसका ठीक-ठीक उपयोग हो। तुच्छ लगता है तब, जबकि इसका उचित उपयोग न हो। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसको उचित रीति से प्रयोग में लाने का साधन क्या है? कौन-सी विधि है जिससे इस रथ में बैठा हुआ आत्मा अपने ध्येय को प्राप्त करे? साधन स्पष्ट और सीधा है। मन को वश में करने की बात को याद करके भगवान् राम भी रोए थे गुरु वसिष्ठ के सामने। अर्जुन भी रोए थे भगवान् कृष्ण के सामने। जब तक मन वश में न हो, तब तक सफलता नहीं मिलती; तब मन को वश में करने का साधन ढूँढना चाहिए। इस साधन की बात इस समय नहीं कहता। मन तो शरीर का एक 'अवयव' है जिसका वर्णन करते हुए मुझे गायत्री मन्त्र तक पहुँचना है। यह शरीर इतना मूल्यवान् है कि यह सबसे बड़ा और सबसे उत्तम है। इसके कल्याण का सबसे सरल साधन गायत्री मन्त्र है।

कुछ लोगों ने इसका अभिप्राय यह समझा कि शेष सब कार्यों को तिलांजलि देकर, संसार को त्यागकर, किसी कन्दरा में बैठकर गायत्री मन्त्र का जाप करते जाओ तो कल्याण हो जाएगा। किन्तु यह बात तो ठीक नहीं। ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया तो इसलिए नहीं कि आप इसे छोड़कर जंगल में जा बैठें; किसी पर्वत की कन्दरा में जाकर आप अपने को बन्द कर लें।

यदि ईश्वर की इच्छा यही होती तो संसार में केवल कन्दराएँ तथा जंगल ही बना देता। ऐसा करने के स्थान में यदि उसने संसार को इतना सुन्दर बनाया तो क्यों ? इस मनुष्य के लिए, जो उनकी सबसे बड़ी तथा सर्वोत्तम रचना है; इसलिए कि इस संसार में रहकर इसका उपयोग करे—वह अपने धर्म का पालन कर सके।

अब प्रश्न होता है कि धर्म क्या है ?

वेद भगवान् ने धर्म की जो परिभाषा बताई, वह आपको सुनाता हूँ। वेद के अनुसार धर्म वह है जिससे लोक तथा परलोक दोनों का कल्याण हो।

कुछ लोगों ने धर्म का अभिप्राय समझा 'वैराग्य' अर्थात् सब-कुछ त्याग देना, संसार को तिलांजलि दे देना। यह सर्वथा ग़लत है। वेद स्पष्टतया कहता है कि धर्म से सन्तान, धन, स्वास्थ्य, राज्य, कीर्ति, बल, सब-कुछ प्राप्त होता है। तो फिर इन सबको छोड़ देना धर्म कैसा हुआ ? हाँ, समय आने पर इन सबको छोड़ देना होता है। उस समय छोड़ना ही धर्म होता है, परन्तु प्रारम्भ में छोड़ना या समय से पूर्व त्याग धर्म नहीं है; त्याग से धर्म अधूरा रह जाता है। जीवन का अभ्युदय ब्रह्मचर्य-आश्रम से होता है। इसका पालन करना उतना ही आवश्यक धर्म है जितना कि समय आने पर संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होना और उसका पालन करना। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम भी उतना ही आवश्यक है। विवाह के समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनमें से दो मन्त्र मैं आपको सुनाता हूँ। उनसे ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम वास्तव में क्या है, कितना महान् आदर्श है इसका, कितनी ऊँची संस्कृति को यह घोषणा करता है। मेरा दावा है कि संसार की कोई और संस्कृति इतना ऊँचा आदर्श उपस्थित नहीं कर सकती। विवाह के समय कन्या अग्नि को साक्षी बनाकर कहती है—"आज मैं इस नवयुवक को पति के रूप में स्वीकार करती हूँ, जिससे पति-लोक (परमात्मा) की प्राप्ति कर सकूँ।" नवयुवक [illegible]

को पढ़कर कहता है—"मैं इस देवी को पत्नी के रूप में ग्रहण करता हूँ जिससे कि ब्रह्मलोक में पहुँच सकूँ।" एक मन्त्र में पति-लोक का वर्णन है और दूसरे मन्त्र में ब्रह्मलोक का। वास्तव में दोनों का अभिप्राय एक ही पतिलोक से है। पतियों का पति, और ब्रह्मलोक का स्वामी है परमात्मा, जिससे बड़ा और कुछ नहीं। पति और पत्नी यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं तो हमारी संस्कृति तथा हमारे धर्म के अनुसार केवल इसीलिए कि अन्त में ईश्वर को प्राप्त कर सकें। गृहस्थाश्रम ईश्वर को पाने का उतना ही आवश्यक साधन है, जितना ब्रह्मचर्य तथा संन्यास-आश्रम। वास्तविकता यह है कि जो मनुष्य अपना लोक नहीं सुधार सका, वह परलोक भी नहीं सुधार सकता। धर्म यह है कि पहले लोक का सुधार करो और फिर परलोक का। जिसका गृहस्थ सुखी नहीं, उसको संन्यासी बनकर भी सुख नहीं मिल सकता।

हृषिकेश के आगे स्वामी रामतीर्थ जी का 'राम आश्रम' है। वह बहुत रम्य स्थान है। एक दिन मैं उसके पास जा रहा था तो देखा कि 'राम आश्रम' के बरामदे में एक साधु बैठा रो रहा है। मेरा मन है हँसोड़। लोगों का रोना मुझे पसन्द नहीं, मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं उसके पास गया इस विचार से कि उसे हँसाकर उसका दुःख दूर करूँ। जाकर पूछा—"बाबा! क्यों रो रहे हो? कोई कष्ट है क्या? कहीं पीड़ा होती है? सिर दुखता है?" साधु ने मेरी ओर देखा, आर्तस्वर में बोला—"नहीं, कुछ नहीं।" मैंने कहा—"फिर हुआ क्या? रोते क्यों हो?" साधु ने और भी उच्च स्वर में कहा—"पत्नी की याद आ रही है!" मैंने ज़ोर से हँसते हुए कहा "अरे? यह बात है तो साधु क्यों बने? किसी वैद्य, डॉक्टर या हकीम ने तुम्हें कहा था?" साधु बोला—"नहीं, यह बात नहीं। एक दिन पत्नी से मेरी लड़ाई हो गई। मुझे क्रोध आ गया, मैं संन्यासी हो गया। किन्तु अब..."

मैं हँसते-हँसते लोटपोट हो गया। किन्तु हँसने की बात तो

नहीं, समझने की बात है। संन्यास-आश्रम अच्छा है, परन्तु अपने समय पर। संन्यास सुखी हो, इसके लिए पहले गृहस्थ को सुखी बनाना चाहिए।

एक थे महात्मा। कितने ही भक्त उनके पास आते थे। एक भक्त बहुत-से मेवे, मिठाई और अन्य खाद्य पदार्थ लेकर उनके पास आया। सबको लेकर एक ओर बैठ गया। महात्मा देर तक उनसे बात करते रहे। फल-मिठाई की ओर उन्होंने देखा भी नहीं। उनके विषय में बात भी नहीं की। भक्त पर्याप्त समय तक बैठे रहे और फिर उठकर चले आए। कमरे से बाहर आकर उन्होंने कहा—"कितना घमण्डी आदमी है! वस्तुओं की ओर देखा भी नहीं। मैं इतने पैसे व्यय करके लाया, परन्तु उनके विषय में बात तक न की!" महात्मा के कान थे पतले, उन्होंने सुन लिया। दूसरे दिन वही भक्त आया। वैसे ही मिठाई तथा फल लाकर उसने महात्मा के सामने रख दिये। महात्मा ने मिठाइयों को देखते ही उनसे बातें प्रारम्भ कर दीं—रसगुल्लों से, गुलाब-जामनों से, कलाकन्द से, लड्डुओं से, बर्फ़ी से, केलों, सन्तरों और सेवों से बातें करते रहे। भक्त उनका मुँह देखता रहा। उससे उन्होंने बात भी नहीं की। उसकी ओर देखा भी नहीं। पर्याप्त समय जब व्यतीत हो गया, तो भक्त तंग आकर कमरे से बाहर गया। बाहर आकर बोला—"कितना अभिमानी व्यक्ति है! इतनी देर से बैठा हूँ। दूर से आया हूँ। मुझसे बात तक न की!" महात्मा ने यह बात भी सुन ली; पुकारकर बोले—"ऐ भक्त! भीतर आओ।" भक्त के आने पर बोले—"देखो, कल मैंने तुमसे बात की, फल और मिठाइयों से नहीं, तब तुमने उपालम्भ दिया। आज मैंने फलों और मिठाइयों से बात की, तुमसे नहीं, तब भी तुमने उपालम्भ दिया। वास्तव में तुम चाहते क्या हो?"

भक्त ने क्या उत्तर दिया, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं, किन्तु उन महात्मा की भाँति कितने ही पुरुष करते हैं। या

तो वे लोक ही लोक की चिन्ता करते हैं या परलोक ही परलोक की। या तो भक्त को भूलकर मिठाइयों से बातें करते रहते हैं, या मिठाइयों को भूलकर भक्त से। दोनों ही अवस्थाओं में भक्त उपालम्भ देता है। यह संसार मिठाई और फल है। परमात्मा वह भक्त है जिसने इस फल और मिठाई को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। दोनों का ध्यान रखना चाहिए; दोनों में से किसी को भी भुलाना धर्म नहीं, त्यागना धर्म नहीं।

कुछ मनुष्य कह सकते हैं—यह तो अत्यन्त कठिन है। ईश्वर और संसार दोनों को साथ-साथ कैसे रक्खा जा सकता है? एक को भूले विना दूसरे को अपनाया कैसे जा सकता है? किन्तु भाई, सुनो तो! कठिन कुछ नहीं। वेद भगवान् ने इसका मार्ग भी बताया है। 'यजुर्वेद' के ४०वें अध्याय में भगवान् अपनी अमृत-वाणी के द्वारा कहते हैं, 'त्याग से भोग कर!'

अर्थात् भोगकर इस संसार को प्रयोग में ला। धन संचय कर, शिशुओं का पालन कर, मकान बना, व्यापार चला, राज्य प्राप्त कर, शक्ति बढ़ा, सम्मान के लिए संघर्ष कर, सबको ग्रहण कर, किन्तु त्याग की भावना से। कारावासी कारावास के कपड़े और बर्तन प्रयोग करता है। उन्हें स्वच्छ और सुथरा रखता है, सँभालता है, प्रयत्न करता है कि कोई चुराकर न ले जाए; किन्तु जब वह कारावास से मुक्त होता है, तब क्या अपने कम्बल से, अपने बर्तनों से, अपनी कोठरी से लिपट-लिपटकर रुदन करता है? इन पदार्थों को चिपटाता है? नहीं, क्योंकि वह कभी उन्हें अपना नहीं समझता है। यह है त्याग से भोग करने का अभिप्राय।

धन-संचय अवश्य करो, भवन-निर्माण करो, सन्तान की रक्षा करो, किन्तु जब विधवाएँ पुकार उठें, जब दुःखी जन चिल्ला उठें, जब अनाथों के अश्रुपात हों, जब देश पर, धर्म और जाति पर आपत्ति आ जाए, तब वस्तुओं को तुच्छ समझकर त्याग दो। यह है त्याग से भोग करने का अभिप्राय।

और त्याग से भोग करने की यह मनोवृत्ति पैदा कैसे होती है ? उसका उपाय क्या है ? उपाय हैं दो—एक गायत्री मन्त्र, दूसरा यज्ञ। गायत्री मन्त्र की बात अभी ठहरकर बताऊँगा। पहले यज्ञ की बात सुनो ! 'शतपथ-ब्राह्मण' में महर्षि याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न पूछे गए। उनका उत्तर देते हुए उन्होंने बताया कि यज्ञ से क्या लाभ हैं। कुछ मनुष्य कहेंगे कि आनन्द स्वामी, यह तू क्या यज्ञ और हवन की बात करता है ? घी आगे ही महँगा है, खाने को मिलता नहीं, तू इसे अग्नि में आहुति देकर व्यर्थ नष्ट कर देने की बात कहता है ? किन्तु सुनो मेरे भाई ! संसार में कोई भी वस्तु विनाश को प्राप्त नहीं होती है। यह विज्ञान का सिद्धान्त है। और फिर आग में डाल देने से नष्ट होने के स्थान में इसकी शक्ति सहस्त्र-गुणा बढ़ जाती है। सामने यह माइक्रोफ़ोन पड़ा है। इसमें क्या है जो ध्वनि को तीव्र कर देता है ? विद्युत्। विद्युत् क्या है ? आग। इस आग में पड़कर मेरा स्वर कितना तीव्र हो जाता है ! विद्युत् या आग जितनी अधिक होगी, स्वर उतना ही तीव्र होगा। यह विज्ञान का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त यदि समझ में न आए तो एक लाल मिर्च को लीजिये। दिल्ली में लोग लाल मिर्च बहुत खाते हैं। मिर्च के बिना इन्हें खाना अच्छा नहीं लगता।

(सुननेवाले मिर्चों की बात सुनकर हँस पड़े। स्वामी जी ने पास बैठी एक छोटी-सी बच्ची को कहा—'क्यों विजय बेटी, तू मिर्च नहीं खाती ?' विजय ने कहा—'जी नहीं।')

एक लाल मिर्च को पुरुष खाये तो सी-सी करने लगता है, किन्तु स्मरण रक्खो कि केवल एक पुरुष सी-सी करता है। उसी लाल मिर्च को तनिक आग में डालकर देखिये तो क्या होता है ? जितने लोग यहाँ बैठे हैं, सब छीं-छीं करने लगेंगे। सबकी आँखों से अश्रुपात होने लगेंगे। इस प्रकार आग में डालने से प्रत्येक वस्तु की शक्ति बढ़ जाती है। इस दृष्टिकोण से यज्ञ का प्रथम लाभ है लोक में। एक छटाँक घी जब आग में पड़ता है तब एक

सहस्र-गुणा हो जाता है; नष्ट नहीं होता। वह मनुष्यों के पास पहुँचता है, देवताओं के पास पहुँचता है। देवता सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी, आकाश, इन्हें जब भोजन मिलता है तब ये बलवान् होकर कार्य करते हैं। आप कहेंगे कि देवताओं को बलवान् बनाने से हमें क्या मिलता है? तो सुनिये! हमारे देश में पृथिवी का क्षेत्रफल ७७ करोड़ ३० लाख एकड़ है। इसमें पच्चीस करोड़ एकड़ भूमि पर कृषि होती है। इसमें से चार करोड़ १० लाख एकड़ भूमि पर नहरों से पानी दिया जाता है। शेष समस्त भू-क्षेत्र भगवान् के भरोसे पर है। वर्षा हो तो इसमें अन्न होता है, न हो तो नहीं होता। समय पर वर्षा हो, यह केवल हमारे देश की नहीं, प्रत्येक देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

यज्ञ का विज्ञान वह विज्ञान है जिसकी सहायता से अपनी इच्छानुसार वर्षा कराई जा सकती है। वर्षा न हो तो यज्ञ करो, वर्षा अवश्य होगी। यज्ञ से बेटा उत्पन्न हो सकता है। जिसके अधिक सन्तान होती हो, उसकी सन्तान का होना भी रुक जाता है। इसीलिए यज्ञ को सर्वोत्कृष्ट कर्म कहा गया है।

यज्ञ से बढ़कर और दान नहीं है क्योंकि यज्ञ का भाग केवल मित्रों और सम्बन्धियों को ही नहीं, प्रत्युत शत्रुओं को भी प्राप्त होता है। इससे बड़ा दान और क्या हो सकता है? अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है। जिस देवता के पास भी आप अपनी भेंट पहुँचाना चाहते हैं, अग्नि में डाल दीजिये, वह भेंट उस देवता के पास पहुँच जाएगी। 'ऋग्वेद' के प्रथम मन्त्र में अग्नि को देवताओं को बुलानेवाला पुरोहित और दूत कहा है। सूर्य देवता, चन्द्र देवता, वायु देवता, जल देवता, मेघ देवता, सबका पुरोहित—सबको बुलानेवाला यही अग्नि है। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं। वर्षा समय पर होती है। सूर्य ठीक प्रकार से चमकता है। पृथिवी अच्छे अन्न को उत्पन्न करती है; इससे निकलनेवाले अन्न में अधिक शक्ति होती है। यह है यज्ञ का वह लाभ जिसका सम्बन्ध इस लोक से—इस संसार से है।

किन्तु यह तो एक लाभ है। दूसरे लाभ का सम्बन्ध परलोक से है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने किये गए प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"यज्ञ में आहुति दी जाती है तो उसके दो रूप बन जाते हैं। वह दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक रूप वायु, जल, आकाश, पृथिवी को शुद्ध करता है, इन्हें शक्ति प्रदान करता है, मनुष्य के लिए लाभप्रद बना देता है; दूसरा भाग मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके वहाँ बैठ जाता है जहाँ सूक्ष्म शरीर का निवास है; और फिर जब जीवन का अन्त होता है, जब सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ आत्मा इस शरीर से बाहर निकलता है तो आहुतियाँ इस सूक्ष्म शरीर को लपेटकर इसे ऊपर उठाकर उस लोक में ले जाती हैं जिसकी इच्छा से ये डाली गई थीं। इच्छा जितनी प्रबल हो, श्रद्धा जितनी सशक्त हो, विश्वास जितना दृढ़ हो, उतना ही आहुतियों का रूप शक्तिशाली होता है।" इसलिए पूर्वजों की आज्ञा है—"प्रातः-सायं, दोनों काल यज्ञ करो। संन्यासाश्रम के अतिरिक्त प्रत्येक आश्रम में करो, जिससे कि आहुतियों का वह दूसरा रूप अधिक-से-अधिक मात्रा में एकत्रित हो सके।"

एक वेद-मन्त्र सुनिये! यज्ञ करनेवाला यज्ञ को सम्बोधित करके कहता है—"हे यज्ञ! जो आहुतियाँ मैं तेरे मुख में देता हूँ उन्हें स्वीकार कर! यज्ञ के देवता, तुम इन्हें स्वीकार करो! हमारे लिए सुखदायी बनो! तुम्हारी सुमति सीधी हमारी ओर आवे, जो सुमति रंक को भी मालामाल कर देनेवाली हो। धन से केवल धन प्रदान करना ही नहीं, किन्तु बुद्धि, बल, शासन, स्वास्थ्य, कीर्ति, सब-कुछ प्रदान करना है; यज्ञ का वह लाभ, जिसका सम्बन्ध परलोक से भी है।

'यजुर्वेद' के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि यज्ञ से तीनों लोकों में कल्याण होता है। छन्द तीन हैं—जगती, त्रिष्टुप् और गायत्री। जगती छन्द या जगती लोक वे हैं, जिनके सम्बन्ध में हमें कोई बोध नहीं—बहुत ऊपर इन नक्षत्रों से परे; इन्हें स्वर्ग लोक भी कहते हैं। त्रिष्टुप् लोक वे हैं जिन्हें हम तारागण के रूप

में देखते हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र इत्यादि; इन्हें भूमि-लोक
भी कहा जाता है; और गायत्री छन्द और गायत्री लोक है यह
पृथिवी; इसके पर्वत, नदियाँ, मैदान, क्षेत्र, जंगल, उद्यान, फल
फूल। इसे भूलोक भी कहा जाता है।

वेद कहता है—जो लोग यज्ञ करते हैं उनसे वैर करनेवाल
न तो कोई भूलोक में रहता है और न भुवः-लोक में और न स्वः
लोक में, न पृथिवी पर, न नक्षत्रगण में, न इनसे ऊपर और
परे। वेद के शब्द हैं—'हे यज्ञ! जो हमसे वैर करते हैं। उन
हम वैर करते हैं। तू उन सबका नाश कर देता है।' यह अवस्थ
जब उत्पन्न हो जाए, जब कोई भी शत्रु न रहे, तब यह आत्म
उस महान् प्रकाश में प्रवेश करता है जिसमें केवल आनन्द है
आनन्द है जिसे भगवान् कहते हैं।

यह है यज्ञ का लाभ! लोक और परलोक, दोनों ही इसं
सुधरते हैं तो सोने पर सुहागा हो जाता है।

गायत्री का अर्थ है वह मन्त्र जो गानेवाले का उद्धार करत
है। प्रेम से, श्रद्धा से जो लोग गायत्री मन्त्र गाते हैं, उसका जा
करते हैं, वे पार अवश्य हो जाते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं
किन्तु अब समय हो गया है पूरा। गायत्री की बात अब आगामं
व्याख्यान में कहूँगा।

दूसरा दिन

प्यारी माताओ! सज्जनो! पिछली वार मैंने वताया कि
मानव-शरीर से अधिक श्रेष्ठ कोई शरीर नहीं। हमारे ग्रन्थों
इसे देवपुरी, ऋषिपुरी, ब्रह्मपुरी कहा है; ऐसा रथ कहा है
जिसपर बैठकर आत्मा अमृत और मोक्ष को प्राप्त करता है
आधुनिक विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि इसमें तीन आने की गन्धक
…तीन आने की अमुक वस्तु है, एक रुपये की अमुक वस्त

मिल-मिलाकर उनके विचार से इसका मूल्य तीन या चार रुपये होता है। आजकल वस्तुएँ महँगी हो गई हैं, इसलिए पाँच या छः रुपये समझ लीजिये। वैज्ञानिक कहते हैं—समझ लो कि इससे अधिक शरीर का मूल्य है नहीं। वे यह भी कहते हैं कि यह शरीर एक तुच्छ कीड़े के शरीर से बढ़ते-बढ़ते मानव का शरीर बन गया है। पहले मछली बना, फिर छिपकली, तब गिलहरी, फिर वन्दर, इस प्रकार कई लाख वर्षों में मनुष्य बन गया। किन्तु हम तो यह नहीं मानते। केवल शास्त्रों में ऐसा लिखा है इसलिए यह बात नहीं कहते, बुद्धि से तथा तर्क से कहते हैं कि संसार में प्रत्येक वस्तु धीरे-धीरे बुढ़ापे, निर्बलता और समाप्ति की ओर जा रही है। यह जीवन का सिद्धान्त है—कोई भी पदार्थ पहले उत्पन्न होता है, तब युवा होता है, फिर बूढ़ा होने लगता है, इसकी शक्ति नष्ट होने लगती है, अन्त में इसकी समाप्ति हो जाती है। वैज्ञानिक स्वयं स्वीकार करते हैं कि सूर्य में वह ताप नहीं जो आज से कुछ करोड़ वर्ष पूर्व था। वे स्वयं कहते हैं कि समय की गति ने सूर्य में बड़े-बड़े गड्ढे उत्पन्न कर दिये हैं—इतने बड़े-बड़े गड्ढे कि एक-एक में कई पृथिवियाँ समा जायें। वे गड्ढे पहले नहीं थे, अब बड़े हो रहे हैं। सूर्य धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। संसार में प्रत्येक पदार्थ की यही दशा है। बिजली की टॉर्च में नई-नई बैट्रियाँ डालो तो पहले दिन-जैसा प्रकाश होता है। वैसा दूसरे दिन नहीं होगा; दूसरे दिन के जैसा तीसरे दिन नहीं होगा; धीरे-धीरे बैटरी समाप्त हो जाएगी। प्रकाश का अन्त हो जाएगा। संसार में प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, बढ़ती है, समाप्त हो जाती है। उत्पन्न होती है अपने वास्तविक रूप में, बढ़ती है इसी रूप में, समाप्त होती है उसी में, किन्तु वैज्ञानिक हमें बतलाना चाहते हैं। शेष सभी बातों के सम्बन्ध में यह बात ठीक है, केवल मानवीय शरीर के सम्बन्ध में ठीक नहीं। इसका उत्तर वे नहीं देते। आज भी हम देखते हैं कि शिशु उत्पन्न होता है, युवा होता है, बड़ा होता है, तब दाँत गिर जाते हैं, आँखें

देखना बन्द कर देती हैं, कान सुनने से मनाही कर देते हैं, एक-एक अंग नि:शक्त होने लगता है, टाँगें चलती ही नहीं, कमर दुहरी हो जाती है, अन्त में लड़खड़ाता हुआ वृद्ध मनुष्य शक्ति से रहित होकर मृत्यु का ग्रास हो जाता है। संसार में हम जीवन का यह सिद्धान्त देखते हैं, मनुष्य के शरीर में देखते हैं, फिर यह कैसे मान लें कि मनुष्य पहले मनुष्य नहीं था, बन्दर था?

ग़लत है विज्ञान का यह सिद्धान्त कि मनुष्य बन्दर से मनुष्य बना। यह शरीर जिसे ऋषियों ने प्रेय कहा, जिसे देवताओं ने अपनी भूमि बनाया, जिसे भगवान् ने ब्रह्मपुरी कहा, पहले भी ऐसा ही था। पहले भी यह सब शरीरों से श्रेष्ठ था, आज भी श्रेष्ठ है, इसीलिए कि इसमें आत्मा रहता है। आत्मा को भुला दो तो फिर वह कुछ भी नहीं। कल आपको पता लगे कि आपके नगर या ग्राम में भारत के प्रधान मन्त्री या राष्ट्रपति आनेवाले हैं, आप क्या करेंगे? सड़कें ठीक करायेंगे, नालियाँ और मुहल्ले साफ़ करायेंगे। बहुत यत्न से उसे सजाएँगे, प्रत्येक कमरे को, प्रत्येक वस्तु को जो इस मकान के अन्दर है। आप उसे अधिक-से-अधिक स्वच्छ बनाने का यत्न करेंगे। राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री आयेंगे तो उसका स्वागत करके, प्रेम से, प्यार से इस मकान में लाएँगे। किन्तु सफ़ाई और तैयारी करने के बाद यदि आप राष्ट्रपति वा प्रधान मन्त्री को पूछें नहीं, उनसे बात नहीं करें, उनको खाने को न दें, केवल मकान को ही सजाते रहें, तो इस सजावट का और मकान का क्या उपयोग? मकान और सजावट का मूल्य (उपयोग) केवल राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री के कारण से है। शरीर का मूल्य केवल आत्मा के कारण से है। राष्ट्रपति चले जाएँ तो उसकी सजावट व्यर्थ है। आत्मा चली जाये तो यह शरीर केवल मिट्टी का ढेर है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा को शरीर मिला किस कारण से? दूसरे भी शरीर हैं! उनको हम श्रेष्ठ और बड़ा क्यों नहीं कहते? क्यों यह मिला शरीर? क्या अभिप्राय था नौ द्वार और आठ चक्रों

की इस ब्रह्मपुरी में आने का ? हमारे ऋषियों और महात्माओं ने इसका उत्तर दिया—आत्मा को यह शरीर भोग और मोक्ष के लिए प्राप्त हुआ है। इसलिए मिला है कि आत्मा इस संसार के उपभोग के साथ-साथ अपने अन्तिम ध्येय प्रभु-मिलन को प्राप्त कर सके। यह संसार जिसे हम अपने चारों ओर देखते हैं, ये फल और फूल, वायु, यह जल, ये बरसते हुए मेघ, लहलहाते खेत, झूमते हुए वृक्ष, ये सब मनुष्य के लिए हैं; मनुष्य प्राणी इसका उपभोग कर सके, इसलिए इनको पैदा किया है। किन्तु यह भोग त्याग के साथ होना चाहिए। पिछली बार मैंने बतलाया था कि त्याग के साथ भोग करने का अभिप्राय क्या है। आज उसको दोहराऊँगा नहीं। किन्तु यह शरीर केवल भोग के लिए नहीं, धर्म के लिए भी मिला। तब यह प्रश्न होता है कि धर्म क्या है ?

हमारे ऋषियों और महात्माओं ने उत्तर देते हुए कहा है—'धर्म' वह है जिससे लोक-परलोक दोनों का सुधार हो। परन्तु लोक और परलोक दोनों का सुधार एक-साथ कैसे हो सकता है, यह बात बहुत-से मनुष्यों की समझ में नहीं आती। इसपर विचार करना चाहिए। समझना चाहिए कि कोई भी ऐसा काम जिससे लोक सुधरे और परलोक नहीं, वह धर्म नहीं। इसी प्रकार कोई भी ऐसा काम जिससे परलोक सुधरे, लोक नहीं, वह भी धर्म नहीं; और ऐसा काम जिससे लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं, वह यज्ञ है। यज्ञ से क्या-क्या लाभ होते हैं यह मैंने पिछली बार बतलाया। यज्ञ से परलोक किस प्रकार सुधरता है, परलोक के विषय में धर्म किस प्रकार पूरा होता है, यह भी बताया। महाराज मनु ने कहा है—"इस संसार से परे दूसरे लोक हैं जहाँ न बेटा साथ जाता है, न बेटी, न पत्नी, न मित्र, न कोई साथी ही वहाँ जाता है, वहाँ केवल धर्म ही मनुष्य के साथ ठहरता है और यह धर्म 'यज्ञ की इन आहुतियों' से लिपटा रहता है, जो हम श्रद्धा से तथा प्यार से यज्ञ की अग्नि में डालते है।"

यह यज्ञ का लाभ है। इससे लोक सुधरता है और परलोक भी सुधरता है। कुछ लोग कहते हैं कि लाभ की बात तो हमने सुन ली, किन्तु यज्ञ न करें तो इससे हानि क्या है?

सुनो मेरे भाई! सुनो मेरी बच्ची! यज्ञ न करने की हानि तुम्हें बताता हूँ। जब तक इस संसार में यज्ञ होते रहे, तब तक लोग सुखी थे। वर्षा समय पर होती थी। सूर्य ठीक प्रकार से चमकता था। खेतों में अनाज समय पर होता था। इसमें पवित्रता होती थी। रोग नहीं होते थे। क्यों नहीं होते थे? इसलिए कि यज्ञ को धर्म माना जाता था। कोई भी मनुष्य यज्ञ के बिना न था।

भारत के प्राचीन ऋषियों और महात्माओं ने योग की ध्यान-अवस्था में जाकर देखा कि सुख तब होता है, जब आकाशी संसार (द्युलोक) और मृत्युलोक तथा मानवीय शरीरवाले संसार, तीनों में सामञ्जस्य हो, तीनों में एक जैसी बात हो रही हो। आकाश में जो कुछ है वह इस संसार में है। संसार में जो कुछ है वह इस शरीर में है। शरीर तब ठीक रहता है जब आकाश ठीक हो। तब उन्होंने निर्णय किया कि मनुष्य यदि सुखी रहना चाहता है, यदि वह चाहता है कि पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र और तारे उसके लिए शक्तिदाता हों, उसे ऊपर और आगे ले-जानेवाले हों तो उसे यज्ञ करना होगा। यज्ञ से इन तीनों संसारों में—आकाश, पृथिवी और शरीर में—सामञ्जस्य होता है। यज्ञ से समय पर वृष्टि होती है, पृथिवी उपजाऊ बनती है, अन्न शक्तिशाली होता है।

किन्तु हमारे देश में दासता के कारण एक विचित्र प्रकार की हीन भावना-सी उत्पन्न हो गई है। हमारे ग्रन्थों ने जब कहा कि मनुष्य अपनी इच्छा से वर्षा कर सकता है, तो हमारे देश के लोगों ने माना नहीं। यूरोप और अमेरिकावाले किसी बात को जब तक प्रमाणित न करें, तब तक हम लोग अपने ग्रन्थ में लिखी किसी बात को स्वीकार करने को तत्पर नहीं। वर्षा के सम्बन्ध

में भी हमें सन्देह था कि वह मनुष्य की इच्छा से नहीं हो सकती। किन्तु आज से कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने जब घोषणा की कि उसने अपनी इच्छा से वर्षा कराने का यन्त्र तैयार कर लिया है तब हमने स्वीकार किया कि हाँ, मनुष्य की इच्छा से भी वर्षा हो सकती है। मैंने इस यन्त्र के चित्र को देखा तो विस्मय में पड़ गया। यह यन्त्र आपके हवन-कुण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अत्यन्त विशाल हवनकुण्ड-सा है वह, जिसमें लगभग वही जड़ी-बूटियाँ जलाई जाती हैं, जिन्हें हम सामग्री के रूप में हवन-यज्ञ में आहुतियाँ देते हैं। उनसे धुआँ उठकर आकाश में जाता है तो आकाश में मेघ एकत्रित होने लगते हैं। तब वायुयान उन मेघों के ऊपर जाकर शुष्क हिम डालते हैं। मेघ शीतल हो जाते हैं और वर्षा होने लगती है। अमेरिका की इस वर्षा-विधि में और हमारे देश भारत की वर्षा-विधि में यदि कोई अन्तर है तो यह कि हम मेघों को वर्षा के रूप में परिवर्तित करने के निमित्त वायुयान और शुष्क हिम का प्रयोग नहीं करते। हम उस मन्त्र का आश्रय ग्रहण करते हैं जिससे बादल स्वयं ही वर्षा करने लगते हैं।

सो मेरे भाई ! यह है यज्ञ से लाभ, और उसे न करने से हानि है वह जिसे हम देखते हैं। कभी वर्षा उपयुक्त अवसर पर नहीं होती; कभी होती है तो इतनी अधिक कि बाढ़ का विकराल रूप धारण कर लेती है। लहलहाते क्षेत्र विनष्ट हो जाते हैं घरों का विध्वंस हो जाता है। अन्न में वह शक्ति नहीं जो पूर्वकाल में थी। ओषधियों में रोग-निवारण की शक्ति नहीं। वायु में अमृत नहीं।

वेद भगवान् ने कहा था—'यज्ञ से वह सुबुद्धि प्राप्त होती है जो मनुष्य को स्वास्थ्य, बल, धन, राज्य, परिवार, सम्मान, अवस्था और कीर्ति से सुसम्पन्न कर देती है।' प्रायः सुबुद्धि अथवा सुमति का अर्थ ज्ञान या बुद्धि होता है। आधुनिक तत्त्ववेत्ता और विज्ञानवेत्ता बुद्धि से आगे नहीं जा सकते। बुद्धि को वे

आत्मिक शक्ति समझते हैं, आत्मा का तत्त्व समझते हैं। उ
ज्ञात नहीं कि बुद्धि आत्मा का नहीं, प्रत्युत इस शरीर का औ
प्रकृति का अंश है। प्रकृति का सर्वप्रथम रूप जो प्रकृति के बिगड़
के उपरान्त निर्मित हुआ, बुद्धि था। भगवान् ने जब सृष्टि क
रचना की, तब प्रकृति सोई हुई थी। उसमें केवल एक गुण था—
वह थी बुद्धि। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान् ने अपन
शक्ति से जागरित किया। आज्ञा दी—"उठो, जागो! मुझे तुमसे
सृष्टि का निर्माण कराना है।" तब भगवान् की शक्ति से प्रकृति
में महत्तत्त्व, जिसे समष्टि बुद्धि या सामूहिक बुद्धि भी कहते हैं,
पैदा हुई। यही प्रत्येक मानवीय शरीर में बुद्धि बनकर प्रकट
होती है। बुद्धि का अर्थ सुमति से नहीं। सुमति या सुबुद्धि भग-
वान् की वह शक्ति है जो यज्ञ के द्वारा मनुष्य को प्राप्त होती है,
जिसे प्राप्त करने के पश्चात् यह जीता-जागता आत्मा प्रकृति
से उस परमानन्द की ओर अग्रसर होने लगता है जो इसका लक्ष्य
तथा ध्येय है।

'यजुर्वेद' के द्वितीय अध्याय में एक मन्त्र आता है। महर्षि
दयानन्द ने इसका जो अर्थ किया वह आपको सुनाता हूँ। अर्थ
है—"कौन यज्ञ करनेवाला इस यज्ञ को त्यागता है? अर्थात् कोई
नहीं त्यागता।" जो समझता है और जानता है, वह यज्ञ कभी
नहीं त्यागता; यज्ञ से कभी विमुख नहीं होता। जो यज्ञ को
त्याग देता है, उसे ईश्वर भी त्याग देता है। क्यों जी! इससे
बड़ी भी कोई हानि तीन लोक में हो सकती है? जिसे ईश्वर ही
छोड़ दे, उसके पास शेष रह ही क्या जायेगा? जिसका ईश्वर
ही त्याग कर दे, उसकी रक्षा करनेवाला कौन हो सकता है?
कहीं उसको सुख नहीं मिल सकता। सुख और शान्ति उससे
कोसों दूर भागेंगी, क्योंकि सुख और शान्ति तो ईश्वर में व्याप्त
हैं या समाविष्ट हैं। ईश्वर ने छोड़ दिया जिसे, सुख और शान्ति
ने छोड़ दिया उसको। महर्षि अर्थ करते हुए लिखते हैं—यज्ञ
करनेवाला यज्ञ-सामग्री को किसलिए अग्नि में आहुति देता है?

सबको सुख देने के लिए, सबको पुष्टि देने के लिए, आयु के लिए, धन के लिए, राज्य के लिए, कीर्ति के लिए। जो वस्तु यज्ञ से शुद्ध किये बिना ही प्रयोग में लाई जाती है वह राक्षसी बन जाती है। उसको खाने से और प्रयोग में लाने से मनुष्य भी राक्षस बन जाता है; तब उसका पतन होता है और वह निरन्तर अवनति के गर्त में गिरता जाता है।

यह है यज्ञ की उत्कृष्टता। वेद भगवान् ने इसे इतना ऊँचा स्थान दिया है जितना अन्य किसी वस्तु अथवा कार्य को नहीं दिया। महर्षि दयानन्द से पूर्व या तो यज्ञ होते नहीं थे या हिंसा के आधार पर होते थे। यज्ञ का अभिप्राय प्रत्येक प्राणी को लाभ और सुख देना है। उसमें हिंसा के लिए स्थान कहाँ है ? किसी जीव को मृत्यु के घाट उतार देना उसे लाभ पहुँचाना नहीं है। यज्ञ करना धर्म है। यज्ञ के साथ हिंसा करना धर्म नहीं है।

किन्तु जैसाकि मैंने पिछली बार बतलाया था, यज्ञ के अतिरिक्त एक और कर्म भी है जिससे लोक और परलोक सुधरते हैं; लोक और परलोक के सम्बन्ध में मनुष्य का धर्म पूरा होता है। वह है गायत्री मन्त्र। पिछली बार मैंने कहा था, गायत्री का शाब्दिक अर्थ है वह मन्त्र जिसको गाने से, जिसका जाप करने से मनुष्य का उद्धार हो जाता है। आज 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व की एक कहानी सुनिये ! अनुशासन-पर्व के एक सौ पचासवें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कितने ही प्रश्न किये। उनमें से एक प्रश्न मैं आपको पढ़कर सुनाता हूँ। युधिष्ठिर ने पूछा, "हे पितामह ! हे महाविद्वन् ! कहिये वह मन्त्र कौन-सा है जिसको सदैव जपने से धर्म का भारी लाभ होता है ? जिसको चलते-फिरते, उठते-बैठते, किसी स्थान पर जाते समय, किसी स्थान से आते समय, किसी कार्य को प्रारम्भ करते समय और किसी कार्य को समाप्त करते समय, प्रत्येक समय पढ़ा जा सकता है ? जिसके जाप से आनन्द, शान्ति-पुल-रक्षण मिलता है ? धन-सम्पत्ति और राज्य मिलता है ?

अधरंग के रोगी की आयु, जिससे तंग आकर लोग मृत्यु की इच्छा करते हैं ? नहीं । ऐसी आयु नहीं, अपितु ऐसी आयु जिसमें 'प्राण' हों ।

वेद कहता है—'आयु के साथ-साथ गायत्री अपने जाप करने-वाले को प्राण देती है ; रोग और निर्बलता उसके पास नहीं आती । आए तो शीघ्र ही निवृत्त हो जाती है ।' किन्तु केवल आयु और स्वास्थ्य ही तो मनुष्य की इच्छा नहीं । यह सन्तान भी चाहता है, और वेद कहता है—'गायत्री सन्तान देती है, पुत्र देती है ।'

किन्तु क्यों जी ? सन्तान हो जाए अधिक । उन्हें खिलाने के लिए, पालने के लिए कुछ हो नहीं, तो फिर मनुष्य क्या करेगा ? गायत्री माता बहुत अच्छी है, सन्तान देती है । हो गई सन्तान—दो-चार-आठ-दस-पन्द्रह-बीस । उनके खाने के लिए यदि नहीं तो उनका क्या करें ? क्या अनाथालय में भेज दें ? नहीं; गायत्री का जाप करनेवाले की सन्तान अनाथालयों में नहीं जाती । वेद कहता है—'गायत्री अपने जाप करनेवाले को पशु, घोड़े, गाय, बैल, धन, अन्न, भूमि, फल, क्षेत्र सभी कुछ देती है ।'

परन्तु देखो मेरी माताओ ! देखो मेरे बच्चो ! मनुष्य की इच्छा यह सब लेकर भी पूरी नहीं होती । आयु, प्राण, सन्तान, घोड़े, हाथी, मोटर-कारें और वायुयान, सब-कुछ मिल जाए, तो भी एक इच्छा मन में रहती है—कीर्ति की इच्छा । इस बात की इच्छा कि उसका सम्मान हो, उसके वंश का विस्तार हो ।

और वेद कहता है कि गायत्री अपने जाप करनेवाले को सुयश देती है ।

केवल यही नहीं; वेद तो इससे आगे भी कहता है—'गायत्री हमें ब्रह्मवर्चस् (मुख की कान्ति) को भी देती है, जिसे देखते ही प्रत्येक दर्शक झुक जाता है । गायत्री का जाप करनेवाले के मुख-मण्डल पर तेज होता है ।'

ये सात सांसारिक पदार्थ हैं जो कि गायत्री के जाप से

उपलब्ध होते हैं, किन्तु इन पदार्थों का सम्बन्ध तो इस लोक से है और गायत्री केवल इस लोक का नहीं, परलोक का भी सुधार करती है। वेद कहता है—'इन सब पदार्थों को देकर ही गायत्री माता, तू मुझे ब्रह्मलोक में ले जाती है, तू मोक्ष दिला देती है।'

अब बताइये, हो गया कि नहीं लोक और परलोक का सुधार? यह सुधार यज्ञ से भी होता है, गायत्री मन्त्र से भी; और यदि यज्ञ गायत्री मन्त्र से हो तो समझिये कि सोने पर सुहागे का काम हो गया।

इन सब बातों को सुनकर आपके मन में आता होगा कि क्या ही अच्छा होता कि हम भी गायत्री का जाप करते! काश, हम अपनी आयु को नष्ट न करते! किन्तु घबराओ नहीं, जितनी शेष है उसी में गायत्री का जाप करो, उसी से कल्याण होगा। एक कहानी सुनाता हूँ आपको, पहले भी कई स्थानों पर सुना चुका हूँ। आज फिर सुनाता हूँ।

एक था राजा, शायद भारत के दक्षिण में। एक दिन वह आखेट के लिए जंगल में गया। मार्ग भूल गया, देर हो गई, भूख और प्यास से व्याकुल होने लगा। तभी देखा कि जंगल में एक लकड़हारा लकड़ियाँ काट रहा है। बहुत पेड़ कट चुके हैं; थोड़े-से बाकी हैं। उन्हीं में से एक पेड़ की शाखाओं को वह नीचे गिरा रहा है। राजा ने उसके पास जाकर कहा—'भाई! मैं भूखा हूँ, बहुत प्यास लगी है, तुम्हारे पास खाने को कुछ है क्या?' लकड़हारे ने कहा—'है, आओ, बैठो! दूर इधर एक बावड़ी है। मैं वहाँ से पानी लाता हूँ। तुम यह रोटी खाओ!' और पोटली से निकालकर एक मोटी-सी रोटी उसने राजा के सामने रख दी। थोड़ा-सा शाक भी रख दिया। राजा ने उसको खाया। लकड़हारे द्वारा लाया हुआ पानी पिया। शांत होकर कहा—'मैं अमुक स्थान का राजा हूँ। घर का मार्ग भूल गया हूँ।' लकड़हारे ने मार्ग बतला दिया। राजा ने कहा—'कष्ट के समय तुमने मेरी सहायता की। यदि तुमको कभी आवश्यकता पड़े तो मेरे समीप

आना ! मैं तुम्हारी सहायता करूँगा ।' लकड़हारे ने हाथ जोड़कर प्रणाम कर दिया । राजा चले गए । कुछ दिन व्यतीत हो गए । धीरे-धीरे उस वन में सभी वृक्ष समाप्त हो गए जिसमें लकड़हारा लकड़ी काटकर कोयले बनाकर बेचता था । अब वह अपनी जीविका चलाए तो कैसे ? लाए तो कहाँ से ? बहुत दुःखी हो गया । दुःखित चित्त से राजा के समीप पहुँचा । सेवकों ने राजा को सूचना दी कि लकड़हारा आपको मिलना चाहता है । राजा ने सोचा, स्मरण आया कि हाँ, एक लकड़हारे को सहायता देने का वचन दिया था । एक दिन उसने प्राण बचाए थे । बोला—'उसको अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाकर मेरे समीप लाओ !' सेवकों ने लकड़हारे को स्नान कराया, नवीन वस्त्र पहनाए । राजा के सामने ले आए । राजा ने पूछा—'कहो भाई लकड़हारे ! क्या बात है ? उदास क्यों हो ?' लकड़हारे ने उत्तर दिया—'महाराज, जिस वन में से मैं लकड़ियाँ काटता था, समाप्त हो गया । अब जीविका का मेरे पास कोई साधन नहीं । आपकी शरण में आया हूँ कि कोई और वन मिले तो मैं भूखा मरने से बच जाऊँ ।' राजा ने कहा—'हो जाएगा यह काम, तुम निश्चिन्त हो जाओ !' उसके चले जाने पर अपने मन्त्रियों को बुलाकर परामर्श किया कि लकड़हारे को क्या दिया जाये ? परामर्श के पश्चात् निर्णय हुआ कि शहर के दक्षिण में राजा का चन्दन के वृक्षों का जो वन है, वह लकड़हारे को दिया जाय जिससे सदा के लिए लकड़हारे की निर्धनता दूर हो जाए । पदाधिकारियों को बुलाया गया । चन्दन के वृक्षों का वह वन लकड़हारे के नाम कर दिया । उसको सूचना दे दी गई । कई वर्ष व्यतीत हो गए । राजा एक दिन अपने महल में बैठे थे कि लकड़हारे का ध्यान आया । प्रसन्नता के साथ उन्होंने सोचा—अब तो लकड़हारा बहुत धनी हो गया होगा । कई भवन तथा महल बनवा लिये होंगे, इसलिए चलकर उसे देखना चाहिए । अपने मन्त्रियों को साथ लेकर वह उस वन में गया, जो लकड़हारे को दिया था । किन्तु वहाँ कोई वन ही नहीं

था; न चन्दन का कोई वृक्ष। राजा ने घबराकर पूछा—'अरे, वह वन कहाँ है जो लकड़हारे को दिया था? किसी और स्थान पर होगा, तुम मुझे अन्य स्थान पर ले आए हो।' मन्त्रियों ने पदाधिकारियों की ओर देखा, पदाधिकारियों ने कागज़ों की ओर। छानबीन करके बोले—'महाराज! वह जंगल तो इसी स्थान पर था।' राजा ने कहा—'फिर वह गया कहाँ?' खोज करने पर कुछ दूरी पर चन्दन के कुछ वृक्ष दिखाई दिये। उनके पीछे बैठा हुआ लकड़हारा भी दिखाई दिया—निराश और उदास, विचारमग्न। राजा ने उसके पास जाकर पूछा—'अरे, तू चिन्ता में क्यों है?' लकड़हारे ने प्रणाम करके कहा—अन्नदाता! आपकी कृपा से इतने वर्ष तो कट गए। अब कुछेक पेड़ रह गए हैं, जो थोड़े दिनों में समाप्त हो जाएँगे। सोचता हूँ इसके पश्चात् क्या करूँगा?' राजा ने आश्चर्यपूर्वक कहा—'वृक्ष तो थोड़े-से रह गये हैं, शेष वृक्षों का क्या किया तूने?' लकड़हारा बोला—'नित्य लकड़ी काटता हूँ, कोयले बनाता हूँ और बाज़ार में जाकर बेच देता हूँ।' राजा ने दुःख से कहा—'अरे भाग्यहीन! यह तुमने क्या किया? यह चन्दन की लकड़ी थी। जलाकर कोयला क्यों बना दिया?' लकड़हारा बोला—'चन्दन की लकड़ी क्या होती है?' राजा बोला—'अच्छा होता यदि तू जानता। अभी एक लकड़ी काट मेरे सामने कोई दो-तीन फुट की, और ले जा इसको बाज़ार में। कोयला न बनाना इसका!' लकड़हारे ने वैसा ही किया। एक दूकानदार ने देखा—लकड़ी है असली चन्दन की, लकड़हारा है गँवार; बोला—'क्या लेगा इसका?' लकड़हारे ने पूछा—'तुम क्या दोगे?' दुकानदार ने कहा—'एक रुपया।' लकड़हारा आश्चर्य से चिल्लाकर बोला—'एक रुपया!' उसका तात्पर्य था कि इस छोटी सी लकड़ी का एक रुपया! दुकानदार समझा, यह जानता है; बोला—'दो रुपये।' लकड़हारा और भी आश्चर्य में चिल्लाकर बोला—'दो रुपये!' दुकानदार ने घबराकर कहा—'अच्छा चार रुपये।' लकड़हारा चिल्लाया—

'अच्छा, चार ?' कुछ दूरी पर एक और दुकानदार खड़ा था। उसने देखा कि पहला दुकानदार एक मूल्यवान् वस्तु को कौड़ियों के भाव खरीद रहा है। उसे पुकारकर कहा—'अरे इधर आ ! मैं दस रुपये दूंगा।' लकड़हारे ने जब दस का नाम सुना तो सिर पकड़कर बैठ गया। चिल्ला उठा, धाड़ मारकर रोने लगा। अब उसे ज्ञात हुआ कि जिस लकड़ी का वह कोयला बनाकर बेचता रहा है, कितनी मूल्यवान् थी ! कितनी बड़ी सम्पत्ति का उसने विनाश कर दिया !

उस लकड़हारे की दशा पर, उसकी मूर्खता पर आपको करुणा आती है। किन्तु सुनो मेरे भाई ! हम स्वयं भी तो उस लकड़हारे की भाँति हैं। राजाओं के राजा उस परमात्मा ने न जाने किस बात से प्रसन्न होकर साँसों का यह चन्दन से पूर्ण वन हमें दिया था। हमने इसे कुत्सित वासनाओं, घृणा, पाप की अग्नि से जलाकर भस्मसात् कर दिया। कितने मूल्यवान् हैं ये साँस, यह हमने समझा नहीं। अरे सुनो ! जब महारानी विक्टोरिया का अन्तिम समय आया, जब बचने की आशा न रही, तो बड़े-बड़े डॉक्टर बुलाए गए। घोषणा की गई कि महारानी को एक मिनट के लिए भी जीवित रक्खो तो एक लाख पौण्ड मिलेगा; किन्तु कोई एक मिनट भी जीवित न रख सका। कितना मूल्यवान् है साँसों का यह चन्दन वृक्षों से यह पूर्ण वन, जिसे हमने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की आग में जलाकर कोयला बना दिया ! परन्तु जो होना था सो हो गया, अब रह गए चन्दन के थोड़े-से वृक्ष; थोड़े-से वर्ष रह गए हैं इस जीवन के, शायद थोड़े-से महीने। आओ, इन्हीं का ठीक-ठीक उपयोग करो। यत्न करो तुम्हारा लोक और परलोक सुधर जाए। लोक और परलोक सुधारने के दो साधन हैं—यज्ञ और गायत्री। गायत्री क्या है ? अवश्य ही आप गायत्री मन्त्र को जानते हैं। वह आर्य और हिन्दू ही क्या जो गायत्री मन्त्र से परिचित न हो ? यह मन्त्र हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इसमें हमारी संस्कृति, सारी सभ्यता,

समस्त सम्पत्ति, समस्त कर्म निहित हैं। इसमें ईश्वर की स्तुति है, उपासना है, प्रार्थना है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने, ऋषियों ने, महात्माओं ने, योगियों ने और हमारे ग्रन्थों ने इसे गुरुमन्त्र का नाम दिया। किन्तु क्या है यह मन्त्र ?

सबसे पहले इसमें 'ओ३म्' है। 'भूः' 'भुवः' 'स्वः'। 'ओ३म्' स्वयं एक मन्त्र है, संसार का सबसे बड़ा मन्त्र, गायत्री मन्त्र से भी बड़ा। ब्रह्मा ने 'ओ३म्' की व्याख्या करते हुए कहा—'ओ३म्' के 'अ' 'उ' और 'म्' तीन अक्षर 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' के प्रतीक हैं। इसमें तीनों का सार है। ये तीनों अक्षर 'भूः भुवः स्वः' के प्रतीक हैं। 'भूः भुवः स्वः' का अर्थ आपको अभी बताऊँगा। ओ३म् के विषय में इतना ही मैं जानता हूँ कि सबकुछ इसमें है, इसकी महिमा का अन्त नहीं।

गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ में इसको बोलते हैं। तब कहते हैं—'भूर्भुवः स्वः'। इन तीनों शब्दों के विषय में उपनिषद् ने कहा—'यह सब शास्त्रों का और मन्त्रों का सार है जो प्रजापति ने निकालकर सामने रख दिया है।'

'भूः' का अभिप्राय प्राणों को देनेवाला, प्राणाधार है। प्राण के बिना कोई भी वस्तु इस संसार में रह नहीं सकती। वर्तमान विज्ञान को भी अन्त में मानना पड़ा कि यह संसार प्राणों से भरपूर है। प्राणों के बिना कोई भी वस्तु यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखती। किन्तु हमारे ईश्वर ने पहले ही कहा—'भूः' प्राणों को देनेवाला, प्राणों का आधार। ये 'भूः, भुवः, स्वः', तीनों शब्द भगवान् की प्रशंसा के सूचक हैं। ये प्रकट करते हैं कि ईश्वर क्या है ?

भाटों और मीरासियों की तरह ईश्वर को उसके गुण बताते चले जाना तो कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता। ईश्वर को प्रशंसा की आवश्यकता नहीं। वह हमारी चाटुकारिता का भूखा नहीं। हम यदि भगवान् की प्रशंसा करते हैं, स्तुति करते हैं तो इसलिए कि इन शब्दों में जो गुण वर्णन किये गए हैं उनका कुछ भाग

अपने अन्दर भी धारण करने का यत्न करें। हम ईश्वर को कहते हैं प्राण-आधार—प्राणों को देनेवाला। इससे लाभ तभी होगा जबकि हम स्वयं भी किसी के प्राण-आधार बनें। किसी को प्राण यदि दे नहीं सकते, तो उसके प्राण ले भी नहीं सकते।

क्यों जी! हम जो ईश्वर को प्राणाधार कहकर उस प्रशंसा करते हैं, तब स्वयं हम प्राणियों के प्राण लेते फिरें तो प्रशंसा का लाभ क्या है? गायत्री के जाप का अर्थ यह नहीं हम ईश्वर को प्राणाधार मानकर बैठ जायें, अपितु यह भी कि हम स्वयं किसी के प्राण न हरें। दूसरा शब्द है 'भुवः'- इसका अर्थ है दुःखों का नाश करनेवाला।

दुःख बहुत गम्भीर शब्द है। इसका ध्यान आते ही हृद काँप उठता है। हम चाहते हैं दुःख हमारे पास न आये। किन् दुःख क्या है? आज मैं आपको बताना चाहता हूँ कि दुःख को वस्तु नहीं। हमने स्वयं इसको बना लिया है। दुःख चार प्रका के होते हैं। एक वे जिन्हें हम स्वयं पैदा करते हैं, अपने कर्म से जन्म देते हैं। दूसरे वे जो असम्भव इच्छाओं के पूरा न होने से होते हैं। तीसरे वे जो हमारे अभिमान के कारण, देश की स्थिति के कारण, और प्रकृति के कारण से उत्पन्न होते हैं। महँगाई, बेकारी, वर्षा का न होना, दंगा हो जाना, संग्राम छिड़ जाना, अकाल का प्रकोप होना, इस प्रकार के दुःख समाज, देश और प्रकृति के दुःख हैं। इनमें हमारा कोई दोष नहीं। किन्तु शेष तीनों दुःख हमारे कारण से हमें भोगने पड़ते हैं। हम स्वयं इन्हें उत्पन्न करते हैं; अर्थात् दुःख जो हमें संसार में मिलते हैं उनका पचहत्तर प्रतिशत भाग हम स्वयं अपने लिए उत्पन्न करते हैं।

प्रथम प्रकार के दुःखों में एक दुःख शारीरिक है। ये दुःख बिना सोचे-विचारे खाने-पीने और कार्य करने से होते हैं। हमारे सामने एक थाल रख दिया किसी ने। इसमें आलू भी हैं, कचालू भी, भिण्डी भी, गोभी, मटर, अचार, मुरब्बे, रायते, खीर, बंगाली

रसगुल्ले, घण्टेवाले की मिठाई, कितना ही कुछ है।

शास्त्र कहता है कि खीर और दही इकट्ठा खाओगे तो शरीर में रोग उत्पन्न होगा। हम शास्त्र की बात नहीं सुनते; जिह्वा की बात सुनते हैं। कई लोगों को तो मैंने ऐसा भी कहते सुना है कि पेट में प्रत्येक वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न कोष्ठ हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न कोष्ठ तो वहाँ हैं नहीं। दोषपूर्ण वस्तुओं को एकत्रित कर देने से और बहुत अधिक भोजन से अस्वस्थता होती है अवश्य। आजकल तो विद्युत से कितने ही कार्य चलते हैं।

नीचता, ईर्ष्या, मत्सरता, शत्रुता, क्रोध की अग्नि जला रक्खी है। जान-बूझकर अपने-आपको अशान्त बना रक्खा है। फिर शान्ति क्या मिलेगी ?

कभी किसी झील, तालाब या नदी में एक पत्थर फेंककर देखो। पत्थर गिरते ही लहरें उत्पन्न होंगी, किनारे की तरफ बढ़ेंगी। किनारे से टकराकर फिर वापस आएँगी। यही दशा मन की भी है। जो घृणा और क्रोध हम करते हैं, इससे लहरें उठती हैं। लहरें दूर-दूर तक जाती हैं, फिर दुगुने वेग के साथ हमारे पास आती हैं। यह आपका उत्पन्न किया हुआ दुःख नहीं तो और क्या है ?

अमेरिका के एक डॉक्टर ने क्रोध की दशा में लिये गये श्वासों को एक बोतल में भरा। घृणा और शत्रुता के उद्‌गारों के समय निकलनेवाले श्वासों को भी जमा किया और तब देखा कि एक घण्टे के अन्दर क्रोध की दशा में जो श्वास मनुष्य से बाहर निकलता है, उसमें इतना विष है कि यदि वह श्वास बीस सूअरों में इञ्जेक्शन द्वारा प्रविष्ट कर दिया जाए तो वे मर जायेंगे।

इस प्रकार हम अपने दुःखों को आप ही उत्पन्न करते हैं। अपने लिए दुःख को स्वयं ही उत्पन्न करने का एक कारण मोह है। हम ऐसा समझ लेते हैं कि मैं मैं नहीं हूँ, प्रत्युत परिवार हूँ। अपनी सम्पत्ति हूँ, अपना निश्चित विभाग हूँ। अपना बेटा, बीवी, बच्चा हूँ। अपना मकान और दुकान हूँ। इस प्रकार समझ लेने से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सर्वनाश होता है। अपने-आपको केन्द्र बनाकर सब वस्तुओं को और सब लोगों को हम अपने-आप में लपेट लेना चाहते हैं। कोई पुरुष है, कोई स्त्री है। उससे प्रेम कर लिया और समझ लिया कि इसका दुःख हमारा दुःख है। इसके सिर में पीड़ा है तो रोएँगे हम। उसकी आँखें दुखती हैं तो चिल्लाएँगे हम। आखिर क्यों ? एक सज्जन का मकान जल गया। मैं उससे मिलने गया। वह फूट-फूटकर रो रहा था—'हाय ! मैं जल गया !' मैंने सुनकर

कहा—'अरे, तू जल गया तो यह बोलता कौन है? क्या तेरा भूत? तू मकान नहीं है। मकान जल गया तो जल जाने दे, तू नहीं जला।'

आप कहेंगे—आनन्द स्वामी, तू तो हो गया फकीर। हमें यह उपदेश क्या देता है? यदि हम मोह न करे तो सन्तान की रक्षा किस प्रकार करें? इन्हें पालें कैसे? मैं कहता हूँ कि मैं सन्तान की रक्षा और पालन को छोड़ देने के लिए नहीं कहता। रक्षा करो और पालन करो अवश्य। मोह में फँसकर नहीं करो। केवल कर्त्तव्य समझकर करो। चिड़िया और पक्षी भी अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं। तो क्या यह सोचकर करते हैं कि जब हम बूढ़े हो जाएँगे तब वे हमें खिलाएँगे? ऐसी भावना छोड़ दो तो दुःख का नाश हो जाएगा। गत वर्ष मैं आर्यसमाज हनुमान रोड पर ठहरा हुआ था तो एक मनुष्य मेरे पास आया। आकर दुःखी स्वर में बोला, 'मैं बहुत दुःखी हूँ, मेरे साथ पटेल नगर चलो।' मैंने पूछा कि दुःख क्या है? उसने कहा—'मेरे दो पुत्र हैं, दोनों कमाते हैं, अच्छी पदवियों पर हैं। स्वयं भी पेन्शन पाता हूँ तीन सौ रुपया मासिक।' मैंने कहा—'यह तो हर्ष की बात है, इसमें कष्ट क्या हुआ?' वह संवेग रो उठा। कमीज़ उठाकर अपनी पीठ दिखाई। रोता हुआ बोला—'स्वामी जी, यह देखिये।' मैंने देखा—उसकी पीठ पर बीसियों चिह्न थे। काँपकर मैंने पूछा—'यह किसने किया?' उसने कहा—'मेरे पुत्रों ने। प्रतिमास जब मेरी पेन्शन आती है तो एक पुत्र कहता है कि सारे रुपये मुझे दे दो। दूसरा कहता है कि मुझको दे दो। और मैं कहता हूँ सौ रुपया एक ले लो, सौ दूसरा, सौ मेरे पास रहने दो। वे कहते हैं तीन सौ के तीन सौ दे दो। तब मार-मारकर मूर्च्छित कर देते हैं। ईश्वर के लिए चलो, चलकर उन्हें समझाओ।' मैंने कहा—'चलो, चलता हूँ तुम्हारे साथ।' परन्तु उनके घर जाकर देखा—एक लड़का एक कमरे में कुर्सी पर डटा बैठा है, दूसरे में दूसरा। उनका ढंग मुझे नहीं जँचा। तब इस

मनुष्य को मैंने एक ओर कमरे में ले-जाकर पूछा, 'कितनी पेन्शन मिलती है तुम्हें ?' उसने कहा, 'तीन सौ।' मैंने कहा—'फिर तुम यहाँ रहते क्यों हो ? तपोवन में जाकर रहो, घर छोड़ दो। यही लड़के तुम्हारा मान करेंगे। तुम्हारे पैर चूमेंगे। मुझे देखो, मैंने अपना घर छोड़ दिया। मेरे पुत्र मेरे पीछे-पीछे भागे फिरते हैं। कोई कहता है—रुपये ले लो। कोई कहता है—यह वस्तु ले लो। प्रत्येक को चिन्ता है कि मेरा आदर वह दूसरे से बढ़कर करे। चल मेरे साथ ! मैं तपोवन का मार्ग बताऊँ।' वह गिड़-गिड़ाकर बोला—'कैसे जाऊँ ! उन लड़कों का मोह मुझे नहीं जाने देता।' मैंने हँसकर कहा—'तो फिर मार खाते रहो बच्चू ! शिकायत क्यों करते हो ?' अपना दुःख उठाते हैं। मैं यह नहीं कहता कि बच्चों की रक्षा और पालन न करो। करो अवश्य, परन्तु इस प्रकार करो जैसे अध्यापक, स्कूल का मास्टर और कॉलेज का प्रिंसिपल अपने विद्यार्थियों की करता है। सद्व्यवहार के साथ गृहस्थाश्रम को चलाओ, किन्तु मोह में नहीं फँसो। अब समय हो गया पूरा। इसलिए—ओ३म् शम् !

तीसरा दिन

प्यारी माताओ तथा सज्जनो ! गायत्री मन्त्र के पहले तीन शब्दों की, जिन्हें व्याहृतियाँ कहते हैं, बात कर रहे थे हम। 'भूः' शब्द की बात बताने के बाद मैं आपको बता रहा था—'भुवः' का अर्थ है दुःखों का नाश करनेवाला। मैं आपको बता रहा था कि दुःख चार प्रकार के होते हैं—एक वे जिन्हें हम अपने लिए स्वयं उत्पन्न करते हैं, दूसरे वे जो ऐसी इच्छाओं को मन में स्थान देने से उत्पन्न होते हैं जिनका पूर्ण होना सम्भव नहीं, तीसरे वे जो अभिमान के कारण होते हैं और चौथे वे जो समाज के कारण, प्रकृति के कारण, देश की दशा के कारण, जाति-पाँति

के बन्धनों के कारण होते हैं। इन चार प्रकार के दुःखों में से केवल अन्तिम प्रकार के दुःख हमारे वश में नहीं हैं; हमारी इच्छा से वे उत्पन्न नहीं होते; उनको रोकने की शक्ति हममें नहीं। शेष तीन प्रकार के दुःख सब-के-सब हमारे ही कारण उत्पन्न होते हैं। स्वयं हम इन्हें उपजाते हैं। चाहें तो रोक भी सकते हैं। रोकते हैं नहीं, और चिल्लाते हैं कि दुःख बहुत हैं।

मैंने बताया कि जिन दुःखों को अपने लिए हम स्वयं उपजाते हैं, उनमें से एक प्रकार के दुःख वे हैं जिनका सम्बन्ध हमारे शरीर से है। जो वस्तु नहीं खानी है उसे खा लेना; जो काम नहीं करना चाहिए वह कर लेना। इस प्रकार दोष हमारी बुद्धि का होता है, रोगी होता है शरीर और रोग दुःखों का एक झुंड लेकर हमारे सामने आ जाते हैं। महर्षि चरक ने अपने आयुर्वेद-शास्त्र में स्पष्ट लिखा है—'प्रत्येक प्रकार के शारीरिक रोग हमारी अपनी मूर्खता के कारण उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकार मानसिक दुःख भी हम अपने लिए आप ही पैदा करते हैं। अपने-आपको केन्द्र बनाकर हमारे आसपास जो कुछ है हम उसे अपना समझ लेते हैं, यद्यपि वह अपना-आप है नहीं; ऐसा समझ लेते हैं हम कि मकान हम हैं, व्यापार हम हैं, परिवार हम हैं। उनमें से किसी को दुःख होता है तो हम उसे अपना दुःख बना लेते हैं। कर्त्तव्य की भावना से ऐसा करें तो दुःख है नहीं, परन्तु कर्त्तव्य की भावना से नहीं, मोह की भावना से करते हैं। फिर काम, क्रोध, ईर्ष्या, शत्रुता, घृणा, सब जाग उठते हैं। इन जलते हुए अंगारों को अपने मन से उत्पन्न करके किसी दूसरे का हम कुछ बिगाड़ें या नहीं बिगाड़ें, अपने-आपको तो अवश्य जलाते हैं। कीचड़ उठा लेते हैं हाथ में कि इससे किसी के नये शुद्ध-स्वच्छ धुले हुए कपड़ों को मलिन कर देंगे। उसके कपड़ों पर वह कीचड़ पड़े या नहीं, हमारे हाथों को तो वह मैला अवश्य करता है। यह अपने-आप से शत्रुता करना नहीं तो और क्या है?

एक और प्रकार के मानसिक दुःख उन लोगों के लिए उत्पन्न

होते हैं, जो सर्वदा जीवन के भद्दे, गन्दे और घिनावने रूप को देखना ही अपना स्वभाव वना लेते हैं; प्रत्येक पुरुष में, प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक समय में दोष ही देखते हैं, बुराइयाँ ही प्रतीत होती हैं उन्हें। कोई उत्कृष्टता या तो उन्हें दिखाई नहीं देती या उसे देखकर वे इस प्रकार भुला देते हैं, जैसे उसका कोई अस्तित्व ही नहीं ! ऐसे मनुष्य से यदि पूछिये कि आनन्द स्वामी कैसा है ? तो वे कहेंगे—अजी, क्या है आनन्द स्वामी, देखा है उसे, संन्यासी वन गया है। अभी तक ऐनक पहनता है।

(श्रोतृगण ने उच्च स्वर से ठहाका मारा और स्वामी जी कहते रहे—)

ऐनक पहनना कोई अवगुण तो नहीं; किन्तु ऐसे प्राणी को कोई क्या कहे ? उन्हें आनन्द स्वामी में कोई अच्छी बात तो प्रतीत नहीं हुई, केवल ऐनक ही दृष्टिगत हुई। अरे भाई ! माना कि स्यात् ऐनक लगाना अवगुण ही हो, परन्तु यह भी तो देखो कि बेचारे आनन्द स्वामी में कोई अच्छी बात भी है या नहीं ?

अभी पिछले दिनों प्रयाग के अन्दर कुम्भ का मेला हुआ। इतने लोग इकट्ठे हुए कि प्रबन्ध करनेवालों ने लाखों रुपये व्यय कर दिये उन्हें आराम पहुँचाने को। कोई भी रोग वहाँ उत्पन्न नहीं हुआ। आग नहीं लगी, बीमारी नहीं फैली। पचास लाख मनुष्य इकट्ठे हुए। कितने बड़े-बड़े यज्ञ वहाँ हुए ! मैंने तो देखा—स्थान-स्थान पर यज्ञ हो रहे थे। बड़े-बड़े महात्मा और उच्च-कोटि के साधु अमृतमय उपदेश दे रहे थे। गो-रक्षा का इतना बड़ा सम्मेलन वहाँ हुआ कि जितना बड़ा आज तक कभी नहीं हुआ। गो-भक्ति की जैसे एक धारा वह निकली। इतना प्रचार हुआ जिसका उदाहरण नहीं मिला। इसमें से किसी वात का कोई भी वर्णन नहीं करता। वर्णन करता है तो केवल उस दुर्घटना का जो वहाँ पर हो गई और जिसमें लगभग ढाई हज़ार मनुष्य मारे गए। यह बात ठीक तो नहीं। एक विचित्र प्रकार की मनो-वृत्ति बना ली है हमने। हम केवल दोष देखना चाहते हैं, गुण

देखना नहीं चाहते। इससे किसी दूसरे को नहीं, स्वयं हमें ही दुःख होता है। संस्कृत में एक कहावत है—

"भौंरा मधु को खोजता है, किन्तु गलियों और घरों में रहने-वाली साधारण मक्खियाँ केवल गन्दे व्रण (ज़ख्म) की ओर भागती हैं।"[1] ऐसे मनुष्य होते हैं कई। एक गोरा-चिट्टा सुन्दर नौजवान मनुष्य है। उसके शरीर के एक भाग में छोटा-सा एक फोड़ा हो गया है। गली की मक्खी का उसके स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं जाएगा। वे भिनभिनाती हुई आकर बैठेंगी तो उस फोड़े पर। तो मेरे भाई! फोड़े से तो वही मिलेगा जो फोड़े में है; शहद मिलेगा नहीं। यदि शहद की इच्छा है तो शहद की मक्खी बन, गली की मक्खी न बन! दूसरों की अच्छाइयाँ देख, बुराइयाँ न देख! अपनी एक बात सुनाता हूँ आपको। मैं छोटा-सा था। एक गाय थी हमारे घर में। पिता जी ने कहा—"जा उसे घुमा ला, पानी पिला ला!" हमारे गाँव के पास एक तालाब था, शायद उसे मुसद्दीवाना कहते थे। गाय उसके किनारे-किनारे घूमने लगी। मैं कुछ दूर पर जाकर खेलता रहा। कुछ देर बाद गाय को लेने आया, तो देखा कि उसके साथ चार-पाँच जोंकें चिपटी हुई हैं—बहुत फूली हुईं, मोटी बनी हुईं। मैं घबराया कि अब पिताजी मारेंगे। रोता-रोता उनके पास पहुँचा। उन्होंने पूछा—"रोता क्यों है?" मैंने कहा—"ये जोंकें··· सारा दूध तो ये पी गईं। अब गाय दूध कैसे देगी?" पिताजी ने हँसते हुए कहा—"घबराओ नहीं। ये जोंकें हैं, ये दूध नहीं पीतीं, रुधिर पीती हैं।" हाय रे दुर्भाग्य! दूध-जैसी अमृत वस्तु के पास पहुँचकर भी अभागी जोंकों को दूध पीने की नहीं सूझी, केवल रुधिरपान करती रहीं वे। किन्तु केवल वे जोंकें ही तो अभागी नहीं! प्रत्येक मनुष्य अभागा है जो केवल बुराइयाँ ही बुराइयाँ

---

१. भ्रमरा मधुमिच्छन्ति, व्रणमिच्छन्ति मक्षिकाः।
सज्जना गुणमिच्छन्ति, दोषमिच्छन्ति पामराः॥

देखता है, केवल बुराइयों की ही चर्चा करता है। गाय के प्यार-भरे बछड़े की भाँति अमृत के पास पहुँचकर भी उसे अमृत क प्राप्ति नहीं होती। जोंक की भाँति उसे केवल मैला रुधिर मिलत है। ऐसे मनुष्य से कहता हूँ—'अपने लिए दुर्भाग्य पैदा न कर बछड़ा बन, जोंक न बन! अमृत-भरा दूध पी, रुधिर-पान न कर!' इस प्रकार हम अपने लिए आप दुःख पैदा करते हैं। ईश्वर को हम 'भुवः' कहते हैं, दुःखों का नाश करनेवाला कहते हैं, तो हमें स्वयं भी यह यत्न करना चाहिए कि दुःखों का नाश करें, उन्हें व्यर्थ पैदा न करते चलते जाएँ।

दूसरे प्रकार के अपने पैदा किये हुए दुःख वे हैं जिन्हें हम असम्भव कामनाओं के कारण उत्पन्न करते हैं। शेखचिल्ली चला जाता है बाज़ार में। किसी ने गजरों का टोकरा उससे उठवाया है। वह सोचता है—'उससे मज़दूरी मिलेगी, उससे अमुक कार्य करूँगा।' धीरे-धीरे एक विशाल भवन बना लिया उसने अपनी कल्पना में। तभी लगी ठोकर, गजरे गये टूट। मालिक ने चिल्ला-कर कहा—'अरे, सत्यानाश हो तेरा! तूने मेरे गजरे तोड़ दिये।' शेखचिल्ली ने माथे पर हाथ मारकर कहा—'तू अपने गजरों को रोता है, मेरा तो महल ही टूट गया!' उस शेखचिल्ली की भाँति हम भी कितनी बार असम्भव कामनाओं को मन में स्थान देते हैं। जब वे पूर्ण नहीं होतीं, तो रोते हैं, चिल्लाते हैं। इसलिए शास्त्रों ने कहा है—'उचित आहार कर! उचित व्यवहार कर! उचित कर्म कर! उचित यत्न कर!'

उचित यत्न क्या? ऐसा यत्न कर जो पूर्ण हो सके—सम्भव यत्न। असम्भव चेष्टा न कर! तेरे पास यदि ढाई हाथ की चादर है तो तू उसमें साढ़े तीन हाथ के पाँव न फैला। इच्छा कर, कर्म भी कर, परन्तु इच्छा वह कर जो तेरी शक्ति के अनु-सार हो। अपनी शक्ति के बाहर जो बात है उसके लिए जो इच्छा करेगा, तो परिणाम होगा दुःख। इस प्रकार अपने दुःखों का पचहत्तर प्रतिशत भाग हम स्वयं उत्पन्न करते हैं। अपने लिए

उत्पन्न किये हुए दुःखों का अन्तिम प्रकार वह है जो कि अभिमान से उत्पन्न होता है। दूसरी बातों की भाँति झूठा अभिमान भी दुःखों को पैदा करनेवाला है। इसीलिए किसी ने कहा था—

लेने को हरि नाम है, देने को कुछ दान।
तारन को है नम्रता, डूबन को अभिमान।।

अरे, इस अभिमान के कारण रावण जैसा महाबली मारा गया। असाधारण मनुष्य था वह! चारों वेदों का पण्डित था। लोग उससे वेदों का अर्थ पूछने जाते थे। अपने समय का सबसे धनी, सबसे बलवान् महाराजा था, परन्तु उसके ज्ञान को अभिमान का ग्रहण लग गया। उसका सुख उसके पास अपने ही कारण दुःख में बदल गया।

किन्तु ये सुख और दुःख हैं क्या? कई बार इस बात को न समझने से भी दुःख होता है। कैसे होता है, यह बताता हूँ। सुख और दुःख वास्तव में किसी वस्तु का नाम नहीं, किसी दशा का नाम नहीं, किन्तु अपने दृष्टिकोण का नाम है। एक ही वस्तु से, या दशा से, एक मनुष्य सुखी हो सकता है, दूसरा आदमी दुःखी भी हो सकता है।

एक थे सेठ साहब, बहुत बड़े, बहुत धनाढ्य। कितने ही लोगों पर कितने ही अभियोग उन्होंने चला रक्खे थे। किसी अभियोग में जीत होती तो प्रसन्न होते। 'हार' होती तो दुःख-सागर में डूब जाते। एक दिन वे पालकी में बैठे कचहरी को जा रहे थे। चार कहारों ने पालकी को उठा रक्खा था। सेठ थे मोटे। कहारों को पसीना छूट रहा था; काँप रहे थे। किन्तु ज्यों-ज्यों कचहरी समीप आ रही थी, त्यों-त्यों कहार अपने दुःख के रहते हुए भी सुखी हो रहे थे कि थोड़ी ही देर बाद वह बोझ कन्धों से उतर जाएगा। किन्तु पालकी के अन्दर बैठे हुए सेठ साहब कचहरी की ओर उठते हुए प्रत्येक पग पर उदास होते जाते थे; चिन्ता के सागर में डूबे जाते थे कि न्यायालय ने आज निर्णय देना है। न जाने मेरे रुपये मारे जाएँगे! यदि सारे-के-सारे ही मारे गये

तो यह बड़ा अनर्थ होगा; और अब समय आ रहा है अत्यन्त समीप ! बोझ को उठाते हुए कहार सोचते हैं—समीप, समीप, समीप ! और सुखी होते हैं। पालकी में बैठा हुआ सेठ यह सोचता है—समीप, समीप, समीप ! और दुःखी होता है। बात एक है। एक को सुख होता है, दूसरे को दुःख।

सुख और दुःख वास्तव में किसी दशा का नाम नहीं, अपितु केवल दृष्टिकोण का नाम है। दृष्टिकोण को बदल दो, बहुत-से दुःख सुख में बदल जाएँगे।

'योग' और 'सांख्य' दर्शन के कर्त्ता महर्षियों ने तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन किया है—परिणाम-दुःख अर्थात् अन्त में उत्पन्न होनेवाला दुःख, ताप-दुःख अर्थात् जो विचार से पैदा होता है, और संस्मरण-दुःख अर्थात् वह दुःख जो पुराने भोगे हुए दुःखों को याद करते रहने से जन्म लेता है। पहले प्रकार के दुःखों में से एक है यौवन का बुढ़ापे में परिवर्तन। कोई चाहे या न चाहे, यौवन का बुढ़ापे में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। इस जीवन की समाप्ति है अवश्य। ईश्वर की अमर कविता 'ऋग्वेद' के पहले मण्डल के ९१वें सूक्त की दसवीं ऋचा है—

"नभो न रूपं जरिमामिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि"

इस ऋचा के अर्थ को समझिये ! इसमें यौवन और बुढ़ापे का, जीवन और मृत्यु का चित्र अंकित किया है। इससे अधिक कवितामय चित्र भी आपने कभी देखा है ? इस वेद-मन्त्र का भावार्थ है—"जब आकाश में घने गहरे बादल छा जाते हैं, जब वे पानी से पूरे भरपूर हो उठते हैं, तब एक-एक बूँद करके वर्षा होने लगती है। अन्त में वर्षा समाप्त हो जाती है। आकाश स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार बुढ़ापा आकाश में छाए बादलों की भाँति रूप-यौवन को नष्ट कर देता है।" जीवन का प्रत्येक श्वास बूँद-बूँद करके वर्षा की भाँति बरसता है और तब एक दिवस आता है जब जीवन का बादल समाप्त हो जाता है, आकाश स्वच्छ हो जाता है। यौवन के बादलों की घनघोर घटाएँ हल्की

पड़ जाती हैं और मृत्यु आ टपकती है।

हाँ मेरे भाई, बेटे, मेरी बच्ची! आकाश निर्मल हो जाता है। कवि ने कहा था—

जो जा के न आए, वह यौवन देखा,
जो आ के न जाए, वह बुढ़ापा देखा।

इसी प्रकार परिणाम का, परिवर्तन का यह दुःख होता है। कपड़े हैं नये, धीरे-धीरे मैले हो रहे हैं। अन्त में एक दिन इन्हें उतार देना है। विद्युत् की टॉर्च में बैट्रियाँ डाली गई हैं नई, किन्तु धीरे-धीरे वे समाप्त हो रही हैं; एक दिन इन्हें निकालकर फेंक देना है। इस तरह निरन्तर होते हुए परिवर्तन से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसे परिणाम का दुःख कहते हैं। इसी प्रकार ताप-दुःख है—सोचने से उत्पन्न होनेवाला दुःख, जो केवल चिंता के कारण जन्म लेता है। एक मनुष्य है अच्छा-भला। घर में प्रत्येक प्रकार की सुविधा है—धन है, माया है, लक्ष्मी है, परिवार है। परन्तु प्रत्येक समय यह चिन्ता लगी रहती है कि पता नहीं सुख रहेगा या नहीं। ज्ञात नहीं इसकी कब समाप्ति होगी। यह चिन्ता अच्छे-भले सुख को भी दुःख से भरपूर कर देती है। और संस्मरण का दुःख वह है जो पुराने दुःखों की स्मृति के कारण उत्पन्न होता है। मुझे अमुक रोग हुआ था, मुझपर अमुक अभियोग लगा था, मुझे अमुक स्थान पर आघात पहुँचा था, ऐसी-ऐसी बातें करके लोग व्यर्थ दुःखी होते हैं। परन्तु 'योगदर्शन' और 'सांख्यदर्शन' में तीनों प्रकार के जो दुःख बताए गए हैं, इनमें से एक के अतिरिक्त शेष दो को क्या हम स्वयं उत्पन्न नहीं करते? परिणाम (परिवर्तन) से होनेवाले दुःख पर तो हमारा कोई वश नहीं, परन्तु शेष दोनों हमारे वश में हैं। क्यों हमने अपने जीवन को आपत्ति का घर बना रक्खा है? आप कहेंगे—अच्छा आनन्द स्वामी! दो प्रकार के दुःख तो छोड़ दिये। तीसरे प्रकार का दुःख भी तो होता है, फिर दुःख से बचें किस प्रकार?

परन्तु सुनो मेरी माताओ ! सुनो मेरे भाइयो !

परिणाम तो संसार में होना ही है, फिर इसके कारण दुःखी काहे को होना ? जो बना है, मिटेगा अवश्य। तुम्हारे दुःखी होने और चिन्ता करने से वह बचेगा नहीं। कई लोग आश्चर्य से पूछते हैं, संसार यदि ऐसा है तो ईश्वर ने इसको बनाया क्यों ? लो, आज तुम्हें वेद भगवान् के प्रसंग से इस प्रश्न का उत्तर बताता हूँ। आज के बाद यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने संसार की रचना क्यों की ? तो उसे वेद के ये शब्द सुनाओ—**'श्रमेण तपसा सृष्टा'** (अथर्व० १२, ५, १)—ईश्वर ने संसार की रचना इसलिए की कि मनुष्य श्रम कर सके और धर्म के मार्ग पर चल सके। साथ ही वेद भगवान् ने कहा—

'नृत्ताय हसाय च।'

अर्थात् श्रम और तप के मार्ग पर चलता हुआ नाचे, हँसे और प्रसन्न रहे। प्रसन्न रहने के लिए जो शब्द वेद में आया है, वह आदेश के रूप में आया है। इस शब्द के द्वारा ईश्वर मार्ग ही नहीं दिखलाते प्रत्युत आदेश करते हैं कि नाचो, हँसो और प्रसन्न रहो। किन्तु आप कहते हैं कि यह तो बड़ी-बड़ी दार्शनिक बातें करता है तू। सीधी-सी समझ में आनेवाली बात कर ! यह बता कि सुख और दुःख क्या है ? तो लो, सुनो सीधी-सी साधारण बात—इन्द्रियों की सन्तुष्टि होना ही सुख है और इनकी सन्तुष्टि न होना ही दुःख है, अर्थात् अतृप्ति होना ही दुःख है। सुख और दुःख दोनों देव-भाषा संस्कृत के शब्द हैं। 'सु' शब्द का अर्थ है 'अच्छा' और 'दु' का अर्थ है 'बुरा'। 'ख' कहते हैं इन्द्रियों को। सुख का अर्थ है अच्छी इन्द्रियाँ। दुःख का अर्थ है बुरी इन्द्रियाँ। अब बताओ कि यदि इन्द्रियों को अपने वश में कर लो तो दुःख रहेगा कहाँ ?

बार-बार एक ही बात मैं आपके मन में बैठाने का यत्न कर रहा हूँ कि जिसे आप दुःख समझ बैठे हैं, वास्तव में दुःख नहीं। अपने दुःख को आप स्वयं उत्पन्न करते हैं। ऐसा करना बन्द कर

दें तो ७५ प्रतिशत दुःखों का अन्त स्वयं ही हो जाएगा।

कई लोग मेरे पास आते हैं; कहते हैं, 'हमारा भजन करने को जी चाहता है। यह भी मानते हैं कि भजन करने से मन में आनन्द उत्पन्न होता है। किन्तु क्या करें? भजन करने बैठते हैं तो जी नहीं लगता।' अरे भोले बच्चो! जी लगे किस प्रकार? तुमने स्वयं ही तो इसमें ईर्ष्या और घृणा की अग्नि दहका रक्खी है। इसे बुझा दो। जी अवश्य लग जाएगा। देखो, तुम्हें अपने अनुभव की बात सुनाता हूँ। मैं जब गृहस्थ-आश्रम में था, वर्ष में एक या दो मास के लिए किसी एकान्त स्थान में चला जाता था—अपने-आपको प्रभु के चरणों में अर्पित कर देने के लिए। अपने साथ आटा, कुछ दाल और घी, छोटा-सा बिस्तर, थोड़े-से कपड़े लेकर, किसी जंगल में जाकर पत्तों की कुटिया बनाता था, उसमें रहने लगता था। दिन में एक बार दो रोटियाँ बनाकर खा लेता था, शेष समय अपने मन-मन्दिर में अपने प्रभु के दर्शनों का प्रयत्न करता था। एक बार घर में तैयारी करके ज़िला काँगड़ा के जंगल में जा पहुँचा। वहाँ पहुँचा और हवन किया। इसके पश्चात् मौन धारण करके अपने कार्य में रत हो गया। मन के रोगों को देखने लगा। इन्हें दूर करने का यत्न करने लगा। परन्तु एक दिन, दो दिन, तीन दिन बीत गए। चित्त को शान्ति नहीं मिली। मैंने दुःखी होकर भगवान् से कहा—प्रभो! यह क्या बात है? तेरे द्वार पर आकर भी मेरे चित्त में शान्ति क्यों नहीं? दुःखी बैठा रहा। प्रातः ५ बजे स्नान करके फिर से भजन करने के लिए बैठा तो विचित्र बात हुई। ऐसा विदित हुआ जैसे भीतर से एक ध्वनि पुकार रही हो। स्पष्ट सीधे शब्दों में उसने कहा—'व्यर्थ है तेरा भजन! व्यर्थ है तेरा आत्म-चिन्तन! लाहौर में एक पुरुष है, उससे तू घृणा करता है। जब तक यह घृणा तेरे हृदय में रहेगी, तब तक मन को शान्ति नहीं मिलेगी। भजन में जी लगाना चाहता है तो जा, उनसे पहले क्षमा माँग! इस घृणा को त्याग दे जो तेरे मन में है!' मैंने इस ध्वनि को सुना तो अशान्ति का कारण जैसे

सजीव होकर मेरे सामने खड़ा हो गया। उसी समय मैंने अपना विस्तर लपेटा। घर में वापस आया तो घरवाले विस्मय में थे कि यह इतना शीघ्र घर कैसे आ गया? किन्तु मैंने किसी से बात नहीं की। सामान रक्खा और सीधे उस सज्जन के घर गया। यहाँ उनका नाम नहीं लूंगा। उनके मकान पर जाकर पुकारा। वह पुकार को सुनकर बाहर आए। आश्चर्य से बोले, "आप?" मैंने पगड़ी उतारकर उनके चरणों में रख दी; बोला, "मैं क्षमा माँगने आया हूँ, मुझे क्षमा करना होगा।" वह आश्चर्य करने लगा कि इसे क्या हो गया? मैंने कहा, "आश्चर्य में मत पड़ो! जंगल में अज्ञातवास के लिए गया था। वहीं से अन्तरात्मा की अन्तर्ध्वनि हुई। मैं आत्मचिन्तन छोड़कर सीधा यहाँ आ गया। आप क्षमा नहीं करेंगे तो मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिलेगी।" यह सुनते ही उनकी आँखों में आँसू आ गए। अपने सीने से लगा लिया उन्होंने मुझको। वे भी रोए, मैं भी रोया। परन्तु इस रोने से घृणा की अग्नि शान्त हो गई। मैं वापस जंगल में गया, वहाँ भजन में बैठा तो चित्त में अपार आनन्द हुआ। फिर चित्त नहीं लगे, ऐसी बात हुई नहीं।

बहुत पहले की बात है कि मथुरा में 'राजा बाबू' नाम के एक सेठ रहते थे। धर्म की ओर उनकी बहुत रुचि थी। कितने ही मन्दिर उन्होंने बनवाए। एक पाठशाला बनवाई जिसमें विद्वान् संन्यासी पढ़ते थे। राजा बाबू का एक और सेठ लक्ष्मीचन्द से झगड़ा था, जो ज़मीन के सम्बन्ध में था। झगड़ा बढ़ते-बढ़ते न्यायालय में पहुँचा। अभियोग चलने लगा। कई वर्ष अभियोग चलता रहा। राजा बाबू यह अभियोग भी लड़ते थे और अपने घर का काम भी करते थे। उनकी बनवाई हुई पाठशाला में प्रत्येक रात्रि को कथा होती थी। राजा बाबू सर्वदा उसे सुनने जाते। कथा सुनते-सुनते उनको संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। अपने गुरु से पूछकर वे पाठशाला में रहने लगे। एक कमरे में पड़े रहते थे। खाना घर से आ जाता; वे खा लेते और जाप

करते रहते। बहुत समय बीत गया। एक दिन उन्होंने गुरु को कहा—"यदि आपकी कृपा हो तो संन्यास ले लूँ।" गुरु ने कहा—"नहीं राजा बाबू, अभी तुम संन्यास के योग्य नहीं हुए।" राजा बाबू ने सोचा, 'मैं घर नहीं जाता परन्तु मेरी रोटी तो घर से आती है। अब घर से रोटी नहीं मँगाऊँगा। यहीं एक नौकर रख लूँगा; वही बना दिया करेगा।' ऐसा ही किया उन्होंने और फिर कुछ दिन बाद यह सोचकर कि अब तो घर से कोई सम्बन्ध नहीं, वे फिर बोले—"गुरु महाराज! अब यदि संन्यास ले लूँ तो?" गुरु ने कहा—"नहीं, अभी समय नहीं आया।" राजा बाबू ने सोचा—'मैं अभी नौकर से रोटी बनवाता हूँ, इसलिए गुरु जी नहीं मानते। यह भी छोड़ दूँ। भिक्षा माँगकर खाऊँगा और आराम की सब वस्तुएँ भी छोड़ दूँगा।' तब ऐसा ही किया उन्होंने। सुबह के समय नगर में जाते, भिक्षा करके लाते और सारा दिन आत्म-चिन्तन में मस्त होकर बैठे रहते। पर्याप्त समय बीत गया। फिर प्रार्थना की गुरु से—"गुरु जी, मुझे संन्यास दे दीजिये!" गुरु ने सोचकर कहा—"अभी नहीं राजा बाबू!" और राजा बाबू आश्चर्यचकित कि अब क्या त्रुटि रह गई? सोचकर देखा और फिर अपने-आपको कहा—'मैं सभी जगह माँगने गया हूँ, परन्तु सेठ लक्ष्मीचन्द के यहाँ माँगने नहीं गया। इसलिए शत्रुता की पुरानी भावना अब भी मेरे हृदय में बसी हुई है। इस भावना को छोड़ देना होगा।' और दूसरे दिन प्रातःकाल ही सेठ लक्ष्मीचन्द के मकान पर पहुँच गये। जाकर अलख जगाई—"भगवान् के नाम पर भिक्षा दे दो!" सेठ लक्ष्मीचन्द के नौकरों ने राजा बाबू को देखा तो दौड़े-दौड़े सेठ के पास गए; हाँफते हुए बोले—"सेठ जी! राजा बाबू आपके यहाँ भीख माँगने आया है।" लक्ष्मीचन्द आश्चर्य से बोले—"यह कैसे हो सकता है? तुम्हें भ्रम हुआ है। कोई और होगा वह।" नौकरों ने कहा—"नहीं, सेठ जी! यह राजा बाबू ही है। यदि आप कहें तो खाने में विष मिलाकर दे दें। सर्वदा के लिए झगड़ा समाप्त हो जाएगा।"

लक्ष्मीचन्द उच्च स्वर में बोले—"नहीं, मुझे देखने दो।" मकान के द्वार पर आकर उन्होंने देखा कि राजा बाबू झोली पसारे खड़े हैं। राजा बाबू ने उन्हें देखा और झोली फैलाकर बोले—"सेठ जी! भिक्षा!" लक्ष्मीचन्द दौड़कर आगे बढ़े, चिल्लाकर बोले—"राजा!" राजा बाबू को अपनी छाती से लगा लिया उन्होंने। राजा बाबू ने झुककर उनके चरणों का स्पर्श किया। लक्ष्मीच भी उनके पैरों में जा गिरे; बोले—"राजा बाबू! ऊपर चल मेरे साथ बैठकर खाना खाओ।" राजा बाबू बोले—"नहीं से जी! मैं तो भिखारी बनकर आया हूँ, भीख माँगने आया हूँ भीख डाल दो मेरी झोली में!"

उसी समय एक नौकर भागता हुआ आया; बोला—"सेट जी! आपका तार! देखिये, इस तार में क्या लिखा है।" लक्ष्मीचन्द ने खोलकर पढ़ा। तार राजा बाबू के बेटों का था; कलकत्ता से आया था—'हमारे पिता राजा बाबू का कहीं पता नहीं लगा। भूमि का झगड़ा अभी समाप्त नहीं हुआ, किन्तु इस ज़मीन को लेकर हम क्या करेंगे? इस तार द्वारा हम भूमि पर से अपना अधिकार वापस लेते हैं। हमारे पिताजी नहीं हैं। आप कृपा करके हमारे पिताजी बनिये। हमें अपनी रक्षा में लीजिए!" लक्ष्मीचन्द रोते हुए बोले—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा! उन्हें लिखो कि भूमि उनकी है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं पिता बनकर उनकी रक्षा करूँगा। आज से केवल राजा बाबू के नहीं, मेरे भी बेटे हुए।" पश्चात् राजा बाबू भिक्षा लेकर मुड़े तो देखा—सामने गुरुजी खड़े हैं, हाथ में गेरुए वस्त्र लिये हुए। राजा बाबू को छाती से लगाकर बोले—"अब तू संन्यास के योग्य हुआ राजा बाबू! अब ये कपड़े पहन!"

इस प्रकार यह बात है प्यारी माताओ! तथा सज्जनो! मन के अन्दर जब तक घृणा है, तब तक गायत्री के जाप का क्या लाभ! इससे कुछ होगा नहीं। गायत्री की उपासना यदि करनी है तो मन से घृणा को दूर निकाल दो! ईर्ष्या और वैर की

भावना को दूर निकाल दो, फिर देखो आनन्द और सुख मिलता है कि नहीं।

एक दूसरे प्रकार के दुःख मनुष्य की मानसिक निर्बलता के कारण उत्पन्न होते हैं। एक सज्जन आए मेरे पास; बोले, "मेरी पत्नी रुग्ण है। बहुत औषधियाँ कीं, परन्तु ठीक नहीं होती। आज आप उसे चलकर देखिये।" मैं गया; जाकर देवी जी को देखा; पूछा—"आपको क्या रोग है?" वह बोली, "भूख ठीक नहीं लगती।" मैंने पूछा—"क्या खाती है तू?" उसने बताया—"एक सेर दूध, थोड़ा मक्खन, बादाम, कभी-कभी पिस्ते भी ५-६ केले, एक दर्जन मुसम्मी, थोड़े-से दूसरे फल, बस यही खाती हूँ।" मैंने हँसते हुए कहा—"तू बीमार है कि किंगकांग? अच्छी-भली है तू, तुझे बीमारी क्या है?" वह बोली—"मुझे कुछ चिपट गया है।" मैंने पूछा—"कब चिपटा है?" वह बोली—"सायं-काल।" मैंने कहा—"तू चिन्ता न कर! आज शाम को ऐसा चिमटा मारूँगा उसे कि वह चिपटना भूल जाएगा, तेरे पास नहीं आएगा।" मैंने कुछ किया-कराया नहीं किन्तु उसने विश्वास कर लिया कि स्वामी जी ने चिमटा मार दिया है। फिर उसे कुछ नहीं हुआ, वह अच्छी हो गई। यह मन की निर्बलता से उत्पन्न दुःख है।

अतः इस प्रकार के भी दुःख होते हैं। मानसिक निर्बलता के कारण भूत और प्रेतों की काल्पनिक धारणा बना लेने से भी दुःख होता है। फिर इस धारणा से ही हम डरते हैं। अपनी एक बात सुनाता हूँ आपको। मैं आठ-नौ वर्ष का था, तो हमारे गाँव जलालपुर जट्टाँ में स्वामी नित्यानन्द आए। हमारे बाग में ही ठहरे। वह गाँव से लगभग एक मील की दूरी पर था। गाँव और बाग के बीच सड़क पर बरगद का एक विशाल वृक्ष था। गाँव-भर में उसके विषय में विश्वास था कि वहाँ रात को भूत आते हैं। जो कोई उसके नीचे से निकले, उसे भूत पकड़ लेते हैं। किन्तु गाँव जाने का और कोई मार्ग न था। गाँव-भर में जो बात

प्रसिद्ध थी, उसे मैं भी जानता था। मेरे चित्त के अन्दर भी वह घर किये वैठी थी। स्वामी नित्यानन्द जी आए, तो पिताजी ने मुझे काम सौंपा कि प्रातः-सायं दोनों समय तू उनका खाना ले जाया कर। एक सायंकाल को मैं उनका खाना लेकर गया, तो खाते-खाते वहुत सुन्दर बातें सुनाने लगे। रात हो गई। मुझे सहसा ध्यान आया कि अब वापस जाते समय बरगद के नीचे से जाना पड़ेगा। चित्त में भयभीत होते मैंने कहा—"स्वामी जी! अब तो रात बहुत हो गई, मैं यहीं सो जाऊँगा।" स्वामी जी ने कहा—"नहीं-नहीं, जा, मुंशी जी प्रतीक्षा करते होंगे।" मैं विवश होकर बर्तन लेकर चल पड़ा। थाली में रक्खीं कटोरियाँ, हाथ पर थाली को रक्खे वापस आने लगा। चलते-चलते जब आया बरगद का पेड़, तो हाथ पर रक्खी थाली काँपी। बर्तन खड़-खड़ाए। मैंने समझा, आ गया भूत। बर्तन वहीं फेंककर जो दौड़ा तो पीछे फिरकर नहीं देखा। दौड़ता-दौड़ता अपने घर पहुँचा और धड़ाम से गिर पड़ा। माताजी ने पूछा—"क्या हुआ?" मैंने कहा—"हुआ कुछ नहीं। वह बरगद का भूत...बर्तन वहीं पड़े हैं। किसी को भेजिये, ले आए।" परन्तु बाद में जब मैं बड़ा हुआ तो ज्ञात हुआ कि भूत-प्रेत कुछ नहीं होते। तब मैं उस बरगद के वृक्ष को देखकर मुस्कराता। रात के समय भी उसके नीचे गया, तो कोई भूत-प्रेत-चुड़ैल दृष्टिगत नहीं हुए।

इस प्रकार हृदय की निर्बलता के कारण भी दुःख उत्पन्न होते हैं। बहुत-से दुःख इसी निर्बलता से जन्म लेते हैं। सुख की इच्छा हो, दुःखों का नाश करना हो तो चित्त की निर्बलता को छोड़ देना चाहिए। निर्बलता की भावना हृदय में आने के स्थान पर उच्च विचार और सत्संकल्पों को पैदा करना चाहिए। वेद बार-बार कहता है—

'मेरे इस मन में शिव संकल्प की उत्पत्ति हो!'

ये संकल्प ही तो हैं जो मनुष्य को पीड़ित करते हैं; जो उसका उत्थान करते हैं; पहाड़ की चोटी पर पहुँचा देते हैं और

उसे गड्ढे में भी फेंक देते हैं।

दिल ही की बदौलत रंज भी है, दिल ही की बदौलत राहत भी।
यह दुनिया जिसको कहते हैं, दोजख भी है और जन्नत भी॥

अपने ही विचार से स्वर्ग और नरक बनता है। जैसा चाहो बना लो, यह तुम्हारे वश में है। जैसा विचार करो वैसा ही संसार बनेगा। प्रत्येक मनुष्य अपना संसार आप बनाता है, अपने बनाए हुए संसार में ही पैदा होता है। आपके सम्बन्धी कैसे हैं, वातावरण कैसा है, यह सब विचारों पर ही निर्भर है। इंजीनियर जिस प्रकार मकान बनाने से पहले नक्शा (चित्र) बनाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने संसार का चित्र हृदय में तैयार करता है। जैसा सोचोगे वैसा ही बनेगा संसार। इसीलिए गायत्री मन्त्र में हम प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! हमारी समझ को, हमारी बुद्धि को अपनी ओर ले चल। ऐसी कृपा कर कि तेरा ही प्यार हमारे हृदय में हो, तेरा ही चिन्तन और वर्णन की इच्छा।

विचार की शक्ति से क्या-कुछ होता है?—इसका एक दृष्टान्त महाशय स्वेट मार्डन ने अपनी पुस्तक 'Peace, Power and Plenty' में लिखा है। Peace, Power and Plenty के अर्थ शान्ति, शक्ति और सम्पत्ति हैं। एक बूढ़े पादरी का वर्णन किया है उसमें। उसके वास्तविक दाँत निकल चुके थे। कृत्रिम दाँतों का पूरा जबड़ा उसके मुँह में रहता था। रात का समय होने से पहले वह दाँतों को एक गिलास या प्याले में रख देता। प्रातः फिर से अपने मुँह में लगा लेता। एक दिन प्रातः ही पादरी साहब उठे तो पेट में कुछ पीड़ा हुई। स्वभाव के अनुसार उसने प्याले की ओर हाथ बढ़ाया कि दाँतों को मुँह में लगा ले, किन्तु दाँत वहाँ थे नहीं। पादरी साहब को ध्यान आया कि रात के समय दाँतों को मुंह से निकालना भूल गया, वे पेट के अन्दर चले गए। उनके कारण ही पेट में पीड़ा होती है। इस विचार के आने पर ही पीड़ा बढ़ने लगी। पादरी साहब चिल्लाने लगे। साथवाले

कमरे से दौड़ती हुई उनकी पत्नी आई; बोली—'क्या हुआ ?' पादरी साहब कराहते हुए बोले—'रात को मैं दाँत निकालना भूल गया, वे चले गए पेट में। अब वे मेरी आँतों को काटे डालते हैं। मैं मरा जाता हूँ।' पत्नी ने घबराकर डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर ने सारी बात सुनकर कहा—'यह तो सर्जन का केस है। पादरी साहब को अस्पताल में ले जाओ। वहाँ जाकर ऑपरेशन कराओ।' तभी एम्बुलेंन्स गाड़ी आई। रोते और चिल्लाते हुए पादरी साहब अस्पताल पहुँचे। अस्पताल के डॉक्टरों ने सारी बात सुनकर कहा—'साहब ! इतने बड़े दाँत गले के अन्दर कैसे गए ? यह तो केवल मनुष्य का गला है, हाथी का गला तो नहीं ?' पादरी साहब ने कराहते हुए कहा—'आप क्या जानें ? मुझे पीड़ा हो रही है और आप उपहास कर रहे हैं !'

जिस तन लागे, सो तन जाने, को जाने पीर पराई !

डॉक्टर ने कहा—'अच्छा भाई ! ऑपरेशन करके देखते हैं।' ऑपरेशन की कोठरी में जाकर पादरी साहब को लिटा दिया। सारे शल्य-यन्त्र (चीर-फाड़ के औज़ार) तैयार कर लिए गए। क्लोरोफ़ार्म मँगा लिया गया। किन्तु इससे पहले कि डॉट खोली जाती और पादरी साहब को क्लोरोफ़ार्म सुँघाया जाता, अस्पताल का एक चपरासी दौड़ता हुआ ऑपरेशन के कमरे में आया; बोला कि यह तार आया है। डॉक्टर ने तार खोलकर पढ़ा—पादरी साहब की पत्नी ने भेजा था और अपने पति के नाम लिखा था—'तुम्हारे दाँत बिल्ली उठाकर ले गई थी; चौथे कमरे में मिल गए हैं।' पादरी साहब ने तार देखा तो बोले—'शायद इसी कारण से पीड़ा कम हो गई। अब तो प्रतीत होता है कि पीड़ा होती ही नहीं।'

मेरी माँ ! यह बात तुम्हें इसीलिए सुनाई कि व्यर्थ चिन्ता न करो ! व्यर्थ में ही अपने दुःख उत्पन्न मत करो ! प्रायः ये चिन्ताएँ निरर्थक होती हैं और सबसे अधिक इन माताओं को होती हैं। लड़की पैदा होने के साथ ही ये चिन्ता करने लगती हैं

कि लड़की बड़ी होगी, तो उसका विवाह करना पड़ेगा। ज्ञात नहीं कि कैसा पति मिलेगा? यदि मिल भी गया तो पता नहीं कि निर्वाह भी होगा कि नहीं? पता नहीं सास कैसी होगी? ननद कैसी होगी? हे मेरे भगवान्! कोई अन्त है इन चिन्ताओं का? व्यर्थ की चिन्ताएँ जिनके सिर न पैर। दुःखों का एक संसार हम अपने लिए उत्पन्न कर लेते हैं।

ये सब बातें आपको गायत्री मन्त्र के 'भुवः' शब्द के विषय में कह रहा हूँ। 'भुवः' का अर्थ है 'दुःख-विनाशक'। हम ईश्वर को यदि दुःख-विनाशक कहते हैं, उससे दुःखों के नाश करने की प्रार्थना करते हैं, तो हमारा भी तो कर्त्तव्य है कि व्यर्थ में दुःख को उत्पन्न न करें। मेरा भी तो कर्त्तव्य है कि दूसरों के दुःखों का निवारण करूँ। सबके दुःखों को दूर नहीं कर सकता तो कुछ-न-कुछ लोगों के दुःखों को तो दूर कर दूँ। यही गायत्री मन्त्र का जाप करना है कि तू प्रतिदिन यह देखना चाहे कि मैं भी किसी के दुःखों का निवारक हूँ या नहीं। मेरे कारण, मेरी बुद्धि के कारण, मेरे हृदय के कारण किसी को दुःख तो नहीं होता? किसी को सुख मिलता है या नहीं? केवल गवैये और भाट की तरह परमात्मा के गुण-वर्णन करने से कुछ होगा नहीं। उसके गुणों का कुछ-न-कुछ भाग हमें अपने अन्दर धारण करने का यत्न भी करना चाहिए। प्रतिदिन अपने-आपसे पूछना चाहिए—

कभी इम्दाद दी तूने, किसी बेकस बेचारे को?
सखी बनकर दिया तूने कभी मुफ़लिस गुज़ारे को?
तसल्ली दी कभी तूने किसी आफ़त के मारे को?
कभी तूने सहारा भी दिया है बेसहारे को?
शरीके-दर्दो-ग़म होकर खबर ली बेनवाओं की?
लगी है चोट भी दिल पर सदा सुनकर गदाओं की?

प्रत्येक दिन इस प्रकार सोचना चाहिए। इस प्रकार करोगे तो 'भूर्भुवः स्वः' कहने से मन में एक अपार शान्ति जागरित हो जाएगी। एक नवीन का जन्म होगा। अपने-आपको जैसे कोई

Hypnotyze कर लेता है, ऐसी दशा उत्पन्न होगी। इस दशा में जो भी प्रार्थना तुम करोगे, वह स्वीकार होगी।

अब तीसरे शब्द 'स्वः' को देखिये। 'स्वः' का अर्थ है सुखों को देनेवाला। परन्तु सुख तो उचित शब्द नहीं है। परमात्मा केवल सुख को नहीं, आनन्द को भी देता है। सुख और आनन्द दोनों भिन्न हैं। सुख अल्पकाल के लिए रहता है, फिर समाप्त हो जाता है। आनन्द वह सुख है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसलिए 'स्वः' का अर्थ है आनन्द को देनेवाला, और आनन्द ही वह वस्तु है जिसकी मेरे और आपके पास कमी है।

आत्मा सत्-चित् है, आनन्द उसके पास है नहीं। केवल परमात्मा ही सत्, चित् और आनन्द है। आत्मा के सकल संघर्ष इस आनन्द के लिए हैं। लोग धन चाहते हैं, सम्पत्ति चाहते हैं। सम्मान, शक्ति, शासन, सन्तान, मोटर, हाथी, घोड़े, गाड़ियाँ सब-कुछ केवल एक बात के लिए चाहते हैं, आनन्द के लिए। परन्तु आनन्द किसी दुकान पर तो मिलता नहीं। कहीं भी चले जाओ, कनॉट प्लेस, गोल मार्केट, बंगाली मार्केट, चाँदनी चौक, बहुत-सी दुकानें वहाँ हैं; बहुत-सी वस्तुएँ वहाँ मिलती हैं। वहाँ ऊन मिलती है। वहाँ मिठाइयाँ मिलती हैं। फ़र्नीचर मिलता है। ओषधियाँ मिलती हैं। वहाँ कपड़े मिलते हैं। जूते मिलते हैं। किन्तु किसी दुकान पर यह तो नहीं लिखा कि यहाँ आनन्द मिलता है। किसी भी दुकान पर बोर्ड नहीं लगा कि हम आनन्द बेचते हैं।

(स्वामी जी जिन दिनों गायत्री के विषय में यह कथा कर रहे थे, उन दिनों वे नई दिल्ली में इर्विन रोड पर श्री पी० एन० बजाज जी के यहाँ निवास कर रहे थे। एक देवी ने कहा, "स्वामी जी! 'आनन्द' बजाज के यहाँ मिलता है प्रातःकाल।" स्वामी जी हँसकर बोले, "हाँ, वहाँ मिलता है।")

जहाँ मिलता है आनन्द, वहीं से मिल सकता है। हलवाई की दुकान पर जाकर यदि कहें कि मैं स्वेटर बुनने के लिए ऊन खरीदने आई हूँ, तो हलवाई समझेगा कि रात्रि को पागलखाने का

द्वार खुला रह गया है, वहीं से ये देवी जी आई हैं। घर में किसी को मलेरिया हो गया। तब उसकी औषधि की आप मिठाइयों की दुकान पर खोज नहीं करते। फिर आनन्द को इस संसार में कहाँ ढूँढते फिरते हो ? चाहते हो मक्खन, बिलोते हो पानी। अरे ! इस प्रकार मक्खन कभी मिलेगा नहीं। आनन्द केवल भगवान् के पास है। संसार में किसी अन्य के पास नहीं।

समझाने के लिए एक कथा कहता हूँ—एक कुत्ते की कहानी। कुत्ता कई दिनों का भूखा था। खाना खोजता फिरता था। चलते-चलते वह एक नदी के पास पहुँचा। तट पर एक वृक्ष था। वृक्ष पर पत्ते नहीं थे, केवल शाखाएँ थीं। उनमें से एक शाखा पर एक रोटी लटक रही थी। वृक्ष का और रोटी का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ रहा था। कुत्ते ने पानी की ओर देखा; समझा—सामने रोटी है। उसमें छलाँग लगा दी। पानी हिला, तो रोटी परे जाती प्रतीत हुई। वह और आगे बढ़ा तो रोटी और आगे जाती विदित हुई। इस प्रकार वह बार-बार आगे बढ़ता, बार-बार रोटी आगे बढ़ जाती। अन्त में मँझधार में पहुँचा, डूबा और समाप्त हो गया।

अरे मनुष्य ! तू भी तो भूखा फिरता है। जन्म-जन्म से आनन्द की प्यास तेरे चित्त में है। इसको खोजता-फिरता है। तूने सोचा—जिसके पास धन है वह सुखी है और मार दी धन के पानी में छलाँग ! किन्तु आनन्द तो मिला नहीं; आनन्द की रोटी आगे हो गई। रणवीर जी ने 'मिलाप' में एक बार अमेरिका के लगभग एक दर्जन करोड़पतियों का वर्णन किया था। उनमें से कोई पागल होकर मरा, किसी ने जेलखाने में आत्महत्या कर ली, कोई रोगों का शिकार हो गया, किसी का दिवाला निकला, कोई वध कर दिया गया, किसी को भी आनन्द मिला नहीं क्योंकि धन में आनन्द तो है नहीं। तूने सोचा कि विवाह में सुख है, पकी-पकाई रोटी मिल जाती है, सुख और शान्ति मिल जाती है। लगा दी छलाँग विवाह के जल में ! किन्तु सुख तो मिला

नहीं। आनन्द की रोटी और आगे हो गई। तूने सोचा—आनन्द सन्तान में है। तूने लगा दी छलाँग! पानी फिर हिल गया। रोटी और आगे बढ़ गई। इस प्रकार मान-सम्मान में, शासन में, मकान में, सम्पत्ति में, कहीं भी आनन्द नहीं। छलाँग लगाना चाहते हो तो लगाओ, किन्तु आनन्द की रोटी मिलेगी नहीं। कुत्ते में यदि बुद्धि होती तो वह पानी में छलाँग लगाने के स्थान पर निहारता ऊपर की ओर, वृक्ष पर चढ़ने का यत्न करता, रोटी मिल जाती।

ऐ मनुष्य! आनन्द की रोटी नीचे नहीं है, वृक्ष के ऊपर है। यह रीढ़ की हड्डी इस वृक्ष का तना है। इसका सहारा लेकर ऊपर चल। ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँच, वहाँ है आनन्द। ऊपर चढ़ना कठिन है अवश्य, किन्तु ऊपर चढ़े बिना आनन्द की रोटी नहीं मिलती। आनन्द की इच्छा है तो ऊपर चढ़ो, नीचे मत गिरो, क्योंकि सुख को, आनन्द को देनेवाला केवल परमात्मा है। वह 'भूः' है—प्राणों का आधार, 'भुवः' है—दुःखों का नाश करनेवाला, 'स्वः' है—आनन्द का देनेवाला।

यही है गायत्री मन्त्र के तीन शब्दों का अर्थ। इसके साथ एक और शब्द है 'ओ३म्'। इसके अर्थ मैं बता नहीं सकता क्योंकि इसके अर्थों का कोई अन्त नहीं। बड़े-बड़े योगी और ऋषि भी इसका पार नहीं पा सकते। यह महामन्त्र है, गायत्री मन्त्र से भी बड़ा। योगी लोग जब इस मन्त्र के विषय में विचार करने लगते हैं, जब वे इसके अन्दर पहुँचते हैं, तो अपने-आपको भूल जाते हैं। तब कोई बताए कैसे कि यह 'ओ३म्' है क्या? एक असीम सागर है यह, अनन्त है, निःसीम है, नेति है। कोई मनुष्य समुद्र के पास एक कमण्डल लेकर पहुँच भी जाये, तो समुद्र को अपने साथ नहीं ला सकता। उतना ही जल लाता है, जितना कमण्डल में आता है। 'ओ३म्' की पूरी बात कोई जान नहीं सका। जान भी नहीं सकता। मैं भी इस समुद्र से एक कमण्डल ले आया हूँ, किन्तु यह कमण्डल समुद्र तो है नहीं। समुद्र के विषय में तो एक

ही बात कही जा सकती है—'नेति-नेति'—इसका पार नहीं है। अतः इतना ही समझिये कि 'ओ३म्' का अभिप्राय है 'रक्षा करनेवाला'। वैसे अनन्त अर्थ हैं। यह वह पदार्थ है जिसके बिना किसी का काम नहीं चला। वेदों में, उपनिषदों में, गुरु-ग्रन्थों में, पुराणों में, यहाँ तक कि तन्त्र-शास्त्रों में भी 'ओ३म्' के बिना कोई कार्य नहीं हुआ। तन्त्रवालों ने अपने मन्त्र बना डाले, किन्तु 'ओ३म्' के साथ का मन्त्र इनको भी नहीं मिला। इसको उन्होंने ज्यों-का-त्यों अपने तन्त्रों के साथ जोड़ दिया।

भगवान् बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे, किन्तु 'ओ३म्' के बिना उनका भी कार्य नहीं चला। गंगोत्री के रास्ते में 'हर्षल' नाम का एक गाँव है। एक छोटा-सा बुद्ध मन्दिर वहाँ बना है। इसकी एक-एक ईंट पर 'ओ३म् ओ३म् मणिपद्मने होम' लिखा है। गुरु नानकदेव जी महाराज ने अपनी वाणी का आरम्भ 'एक ओंकार' से किया है। गुरु जी की वाणी में आता है—

हरि जो सदा ध्यावे तू गुरुमुख एक ओंकार।
ओंकार ब्रह्मा उत्पत् ओंकार वेद निर्माये॥
जलथल महीथल पूरया स्वामी विसर्जनहार।
अनेक भाँति ह्वै पसरिया नानक एक ओंकार॥

'गोपथ ब्राह्मण' के एक ऋषि ने आदेश दिया है कि आत्मा के दुःखों की चिकित्सा ओ३म् है। आत्मा के मोक्ष का द्वार ओ३म् है। ओ३म् की धुन से एक महान् झंकार उत्पन्न होती है। वेद ने उसको आत्मा का सहारा कहा है। ओ३म् के साथ इन तीन शब्दों 'भूः, भुवः, स्वः' का अर्थ हुआ—रक्षा करनेवाले और सुखों के देनेवाले, प्राण-प्रिय, दुःखों का नाश करनेवाले और सुखों के देनेवाले, भगवान्। गायत्री मन्त्र के शेष अर्थों पर अगली बार विचार करेंगे।

ओ३म् शुभम्!

चौथा दिन

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

घूँघट के पट खोल तोहे पिया मिलेंगे ।

सभी लोग चाहते हैं कि घूँघट के पट खुल जाएँ । सभी लोग चाहते हैं कि पिया मिल जाएँ, परन्तु प्रयत्न किये बिना तो ये पट खुलते नहीं । गायत्री मन्त्र से खुलते हैं । गायत्री वह महामन्त्र है जो पट खोल देता है । गायत्री ही दुःखी मनुष्य को उस प्रेमी के समक्ष ले जाकर खड़ा कर देती है, जो परमानन्द और परम शक्ति है । अब से पूर्व मैंने आपको 'ओ३म् भूः भुवः स्वः' इन चार शब्दों के अर्थ बताए । आज शेष शब्दों के अर्थ बताने से पहले गायत्री की महिमा बताना चाहता हूँ । 'देवी भागवत' का हिन्दुओं में बड़ा मान है । 'देवी भागवत' के बारहवें स्कन्ध के आठवें अध्याय में गायत्री मन्त्र के विषय में जो कुछ लिखा है, वह आपको सुनाता हूँ । 'देवी भागवत के शब्द हैं—"विष्णु की उपासना नित्य और सनातन नहीं । वेद में विष्णु की उपासना का उल्लेख कहीं नहीं आता, इसलिए विष्णु की दीक्षा सनातन नहीं । शिव की उपासना भी नित्य नहीं । नित्य और सनातन यदि है तो केवल गायत्री की ही उपासना । सभी वेदों और शास्त्रों में इसी गायत्री की ही उपासना कही गई है । गायत्री वह महामन्त्र है जिसके बिना ब्राह्मण का पतन हो जाता है । गायत्री की उपासना करने से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को मुक्ति मिलती है । इसी से मोक्ष होता है । मनु महाराज ने कहा कि जो गायत्री की उपासना करता है, उसे और किसी उपासना की आवश्यकता नहीं रहती । इससे आत्मा के कपाट खुल जाते हैं ।"

इन शब्दों के आधार पर मैं कहता हूँ कि गायत्री के जाप से, गायत्री की उपासना से घूँघट के पट खुल जाते हैं ।

एक बार जब शिव जी महाराज माता पार्वती के साथ कैलास में घूमते-फिरते थे, तो भगवती पार्वती ने पूछा, "हे देव ! आप

किस देव की उपासना करते हैं जिससे आपको परम सिद्धि प्राप्त हुई ?" महाराज शिव संसार के आदि योगी थे। योग के सब रहस्यों से वे भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने जो उत्तर दिया उसे सुनो ! शिव महाराज ने कहा—"गायत्री देवी माता है और पृथिवी की सबसे पहली और सबसे बड़ी शक्ति है। वह संसार की माता है। मैं उसी की उपासना करता हूँ। विद्वानों ने योग के सारे साधनों की मूलाधार गायत्री को स्वीकार किया है। गायत्री भूलोक की कामधेनु है। उससे सब-कुछ प्राप्त होता है।"

यह है गायत्री की महिमा। बाद में लोगों ने जिसे भगवान् कहा, योगेश्वर और योगिराज कहा, जो योग-विद्या के सबसे पहले प्रचारक थे, उन्होंने भी कहा—"गायत्री ही पृथिवी की सबसे पहली शक्ति है" और आगे चलकर पार्वती को सम्बोधित करके उन्होंने कहा—"प्रिय विद्वानों ने योग की सभी क्रियाओं के लिए गायत्री ही को आधार माना है। गायत्री से आठों चक्र खुलते हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूरक, (४) अनाहत, (५) मन, (६) विशुद्धि, (७) आज्ञा-चक्र, (८) ब्रह्म-रन्ध्र।"

इन सबके नीचे वह शक्ति सर्पिणी की भाँति कुण्डली मारकर बैठी है जिसे कुण्डलिनी कहते हैं। सर्प जिस प्रकार बैठता है, उसी प्रकार तीन कुण्डली मारकर वह महाशक्ति मूलाधार में सोई हुई है। रीढ़ की हड्डी जहाँ नीचे पहुँचकर अन्त को प्राप्त होती है, वहां अपने मुँह से सुषुम्णा को पकड़े बैठी है। उसका मुँह खुल जाए तो योगी के लिए कल्याण का मार्ग खुल जाता है। किन्तु कैसे खुले उसका मुंह ? कौन कहे उस विद्युत् या सर्पिणी से कि खोल अपने मुंह को तथा जाग और योग की महाशक्ति दे दे, जिनसे ऊपर उठने और ब्रह्म-रन्ध्र में चमकती हुई विशाल ज्योति का दर्शन करने के योग्य हो जावें ? शिव जी ने पार्वती जी से कहा—"गायत्री के जाप से, गायत्री की उपासना से उस कुण्डलिनी का मुंह खुल जाता है। और फिर एक-एक करके आठों

चक्र खुलने लगते हैं।" इसलिए शास्त्र ने गायत्री को पृथिवी की कामधेनु कहा है। कामधेनु और कल्पवृक्ष में ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनसे जो भी माँगो, वह मिल जाएगा। जो भी इच्छा करो वह पूरी हो जाएगी—यह तो काल्पनिक बात है, किन्तु शास्त्रों ने गायत्री मन्त्र को पृथिवी की, इस संसार की कामधेनु कहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु उससे प्राप्त होती है। वह वेद-माता और संसार-माता है। भगवान् शिव और माता पार्वती का जो संवाद मैं आपको सुना रहा हूँ, उसी में आगे चल-कर शंकर महाराज ने कहा—"हे पार्वती! कलियुग में मनुष्य के शरीर में पृथिवी-तत्त्व प्रधान होता है। तुम तो जानती हो कि उससे पूर्व के युगों में मनुष्य-शरीरों में यह तत्त्व अधिक नहीं होता था; इसलिए कलियुग में मनुष्य को वह सिद्धि नहीं मिलती जो पूर्व-युगों में मनुष्य को मिलती रही है।" किन्तु यह तो बहुत चिन्ता का विषय है। ईश्वर ने यदि कलियुग के मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करने के लिए बनाया ही नहीं, यदि उसने उसमें पृथिवी-तत्त्व को ही प्रधान कर दिया है तब यह सिद्धि मिलेगी कैसे? पार्वती ने घबराकर कहा—"महाराज! तब कलियुग में मनुष्यों का उद्धार कैसे होगा?" शंकर महाराज मुस्कराकर बोले—"घबराओ नहीं पार्वती! गायत्री वह साधन है जिसको अपना-कर, जाप करके कलियुग का मनुष्य भी सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। जो गायत्री को अपनी माता मानकर, उसकी गोद में जाकर अपने-आपको उनके चरणों पर अर्पण कर देता है, उसे वे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो कि उससे पहले युगों के मनुष्यों को सूक्ष्म तत्त्वों की प्रधानता के कारण प्राप्त होती थीं। गायत्री परम तप है। गायत्री परम योग है। वह परम साधन और परम ध्यान है। वह सिद्धियों की माता है। उससे बढ़कर संसार में और कुछ नहीं। परन्तु केवल जप से नहीं, गायत्री मन्त्र के अर्थों को जीवन में भली-भाँति ढालने से सफलता मिलती है।"

यह है गायत्री की महिमा, जो गायत्री मन्त्र में गायन की गई

है। किन्तु केवल इतना ही नहीं, जितने भी योगी-मुनि हुए हैं, उन्होंने मुक्त कण्ठ से गायत्री को बड़ी महिमावाली बताया है। विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, भारद्वाज, सबने गायत्री की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। और तो और, स्वयं महर्षि चरक ने जिसने 'आयुर्वेद' शास्त्र की रचना की, अपने ग्रन्थ में कहा—जो स्त्री-पुरुष एक वर्ष तक आँवले का रस पीकर, प्रतिदिन प्रातःकाल गायत्री का जाप करे, उसकी आयु निःसन्देह ११६ (एक सौ सोलह) वर्ष की होती है।

देखो मेरी माँ! कितना सरल नुस्खा है यह! आँवले का रस और गायत्री का जाप। फिर न किसी डॉक्टर की आवश्यकता, न वैद्य की; न पेनिसिलीन की, न कोरोमाइसीन की। परन्तु प्राचीन सन्तों और विद्वानों से हटकर आजकल के सन्तों और महात्माओं को देखो तो वे भी गायत्री के गुणगान करते हुए मिलेंगे। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द घोष, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, जगद्गुरु शङ्कराचार्य, सबने एक-स्वर में गायत्री की महिमा का वर्णन किया है। एक-एक करके उनकी बात मैं आपको सुनाता हूं।

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'गायत्री का जाप करने से शक्ति प्राप्त होती है।'

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'गायत्री सद्बुद्धि देती है। परमात्मा से यदि कोई तत्त्व मेल कराता है तो वह है सद्बुद्धि। जिसकी बुद्धि ठीक हो जाये उसके सभी कार्य ठीक होते हैं।'

महाकवि टैगोर कहते हैं—'भारत को जगानेवाला, यह सीधा सा महामन्त्र है। गायत्री मन्त्र से अधिक सुन्दर और कोई भी पदार्थ है, यह मैंने आज तक नहीं देखा। इसके पहले चार शब्दों का उच्चारण करता हुआ, 'ओ३म् भूः भुवः स्वः' कहता हुआ भक्त यह अनुभव करता है जैसे सारा जगत्, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा

घर है। लोक और परलोक इस घर के भीतर हैं। ऐसा विदित होता है जैसे वह सूर्य और चन्द्र, नक्षत्रों और ग्रहों के मध्य खड़ा है। प्रत्येक ओर ज्योति नाच रही है। प्रकाश की नदियाँ बह रही हैं और उन सब-की-सब नदियों के साथ मेरा सम्बन्ध है। गायत्री मन्त्र का जाप करनेवाले को यह अनुभव करना चाहिए कि वह पृथिवी से ऊपर उठकर अनन्त आकाश में अनन्त नक्षत्रों के बीच खड़ा है। वहाँ पहुँचकर उसे गायत्री का उच्चारण करना चाहिए। ब्रह्म का ध्यान करने की यह प्राचीन विधि सर्वोत्तम है। इससे अधिक उत्तम और कोई योग-प्रणाली नहीं। इस विधि को ग्रहण करके मनुष्य सदा के लिए भगवान् से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किसी अन्य विधि से यह बात नहीं होती।'

लोकमान्य तिलक कहते हैं—'यदि कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाना हो तो गायत्री मन्त्र की उपासना करो। गायत्री मन्त्र के जाप से पाप-मैल दूर होता है। मनुष्य को यह प्रेरणा मिलती है कि वह ईश्वर के समीप किस प्रकार पहुँच सकता है।'

पूज्यपाद पण्डित मदनमोहन मालवीय कहते हैं—'गायत्री में मनुष्य को ईश्वर-विश्वासी बनाने की महान् शक्ति है। गायत्री मन्त्र जहाँ आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाता है और उसका दर्शन करा देता है, वहाँ संसार के सकल पदार्थ भी देता है। इससे अधिक शक्तिशाली मन्त्र मैंने देखा नहीं।'

महात्मा गांधी प्रतिदिन गायत्री-जाप करते थे। इस जाप के विषय में वे लिखते हैं—'मन को लगाकर और चित्त को शान्त करके गायत्री मन्त्र का जाप किया जाए तो प्रत्येक प्रकार के संकटों का विनाश होता है। आत्मोन्नति के लिए यह मन्त्र अत्यन्त लाभदायक है।'

डॉ० सर राधाकृष्णन कहते हैं—'गायत्री मनुष्य को फिर से नया जीवन देनेवाली, अनुपम प्रार्थना है।' इसी प्रकार जगद्गुरु शङ्कराचार्य, महर्षि दयानन्द, स्वामी विरजानन्द और दूसरे सभी महात्माओं ने गायत्री की अपार महिमा का वर्णन किया है।

गायत्री की महिमा गाते हुए वे किसी भी समय थकते नहीं।

किन्तु ये सब बातें जो मैंने आपको सुनाईं, ये तो पुरानी बातें हैं। इन्हें सुनने के बाद चित्त में आएगा कि गायत्री की महिमा महान् है; बड़े महत्त्व की वस्तु है। किन्तु क्या आजकल भी कोई ऐसा मनुष्य है जिसने गायत्री से लाभ उठाया है? मेरा उत्तर है कि ऐसा मनुष्य है जो आपके सामने बैठा है। गायत्री का वर्णन करते हुए इस शरीर की कहानी मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। छोटी अवस्था में यह शरीर जलालपुर जट्टाँ में था। एक छोटे-से गाँव में जो अब पाकिस्तान में है, यह शरीर बना। मैं तो समस्त वसुधा का निवासी हूँ। समस्त वसुधा मेरा घर है, किन्तु इस शरीर का घर उस गाँव में था। गाँव छोटा था, परन्तु व्यापार तथा शिल्प के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्व का था। गांधी जी के खादी-प्रचार से बहुत पहले खादी वहाँ बहुत बनती थी, इसे गुजराती कपड़ा कहा जाता था और दूर-दूर तक यह कपड़ा बिकने को जाता था। अतः पहले दिन से ही इस शरीर को स्वदेशी कपड़ा पहनने को मिला। इसके बाद कभी विदेशी कपड़ा पहना नहीं। बचपन की बात है—मैं छठी या सातवीं श्रेणी में पढ़ता था और बहुत ही बुद्धू था, कुछ नहीं आता था। मैं स्कूल के अन्दर पहली घण्टी में 'Stand up on the bench' होता और फिर दूसरी, तीसरी, चौथी घण्टी में। जब तक स्कूल ही बन्द न हो जाये तब तक बैंच पर ही खड़ा रहता था। कक्षा का मॉनीटर चपत मार-मारकर मेरे गाल लाल कर देता। घर में आता तो पिता जी मारते; कहते—'तू सर्वथा अयोग्य है, किसी काम का नहीं।' मैं रो-रोकर कहता—'पिता जी, बहुत ध्यान-पूर्वक पढ़ता हूँ पर याद नहीं रहता।' वे कहते—'तू सर्वथा निकम्मा है, मूर्ख है।' इस दैनिक अपमान से तथा इस दैनिक मार से इतना दुःखी हुआ कि मुझमें उस छोटी-सी आयु में आत्म-हत्या करने की इच्छा जाग उठी। जीवन की कोई इच्छा न रही। सोचा, दुःख और अपमान के इस जीवन से तो मरना अच्छा है।

प्रयोग में लाना चाहिए। छत्त के साथ एक रस्सी बाँध दी। जाप के लिए बैठने लगता तो इसका दूसरा किनारा चोटी के साथ बाँध देता और तब जैसे ऊँघ आती, सिर होता नीचे, रस्सी खिंचती ऊपर, तो चोटी तन जाती और मैं फिर से जाप करने लग जाता। इसी प्रकार ५-६ महीने जाप करते हो गए, तो मैंने इसका प्रभाव देखना आरम्भ किया। पहले परीक्षा होती थी, तीन प्रश्न मिलते थे तो मेरे तीनों के तीनों अशुद्ध हुआ करते थे। अब हरेक प्रश्न ठीक होने लगा। मैं परीक्षा में पास हो गया। अध्यापकों ने कहा—'तूने अवश्य ही किसी की नकल की है। तेरी सफलता की तो आशा न थी।'

मैंने कहा—'नकल नहीं की, मैंने केवल गायत्री मन्त्र का जाप किया है।' उन्हें सम्भवतः यह बात समझ में नहीं आई। परन्तु उसके बाद मैं प्रत्येक परीक्षा में पास होने लगा। उन्हीं दिनों मैंने एक कविता भी लिखी। मेरे गुरु मास्टर काकाराम जी थे। उन्होंने इस कविता को पढ़ा तो इतने प्रसन्न हुए कि उसी समय जेब से एक पौण्ड (गिनी) निकालकर मुझे पारितोषिक के रूप में दिया। उन दिनों में पौण्ड चलते थे। पारितोषिक देने के लिए लोग पौण्ड का प्रयोग करते थे। मैंने यह बात जाकर पिताजी को सुनाई। उन्होंने पौण्ड देखा, कविता देखी और अपने पास से भी एक पौण्ड इनाम में दे दिया। इससे कुछ ही मास बाद एक घटना हुई। आर्यसमाज जलालपुर जट्टाँ का वार्षिक उत्सव था। महात्मा हंसराज जी का व्याख्यान इस उत्सव में हुआ। जिस प्रकार मेरा बच्चा रणवीर मेरे व्याख्यान की रिपोर्ट ले रहा है, इसी प्रकार मैं भी महात्माजी के व्याख्यान की रिपोर्ट लेने लगा। रात को बैठकर सारी रिपोर्ट लिखी। प्रातः ही उसको महात्माजी के पास ले गया यह पूछने के लिए कि कहीं कोई अशुद्धि तो नहीं हो गई। उन्होंने रिपोर्ट को देखा तो बोले—'क्या तू शॉर्टहैण्ड जानता है?' 'जी नहीं।......शॉर्टहैण्ड क्या होती है?' मैंने कहा। वे बोले—'किसका लड़का है तू?' मैंने कहा—'आर्यसमाज के मन्त्री

लाला गणेशदास जी हैं न, वे मेरे पिताजी हैं।' उसी समय मेरे पिताजी भी उसी स्थान पर आए। महात्मा जी ने पूछा—'मुंशीजी! यह आपका लड़का है?' पिताजी ने कहा—'जी।' महात्माजी बोले—'क्या कराते हो इससे?' पिताजी ने बताया—'यह पढ़ने में बहुत अच्छा नहीं। इसके लिए जुराबें बुनने का कारखाना लगा दिया है।' उन दिनों मैं वस्तुतः जुराबें बुनने का काम करता था। पन्द्रह मशीनें थीं मेरे पास। पन्द्रह आदमी काम करते थे, किन्तु सबसे अधिक जुराबें मैं बुनता था। दूसरों को जुराब बुनना सिखाता भी था। इसीलिए सारे जलालपुर के नौजवान लड़के मुझे 'उस्तादजी' कहकर बुलाते थे। महात्माजी ने सब-कुछ सुना तो कहा—'इस काम के लिए यह लड़का नहीं मुंशी जी! इसे मुझको दे दो। मैं इसे उस काम पर लगाऊँगा जिसके यह योग्य है।'

पिताजी ने कहा—'मैं अस्वीकार कैसे कर सकता हूँ? यह आपका बच्चा है, जैसे आप चाहें करें।' इसके बाद कई दिन बीत गए। एक दिन महात्माजी का पत्र आया कि खुशहालचन्द को लाहौर भेज दो। मैं वहाँ गया। 'आर्य गज़ट' में नौकर हुआ, तीस रुपये मासिक वेतन निश्चित हुआ। गाँव में लोगों को पता लगा तो आश्चर्य से बोले—'तीस रुपये माहवार? एक रुपया प्रतिदिन? देखो भाई, मुंशी जी के पुत्र को, वह बहुत बड़ा व्यक्ति बन गया है।' उन दिनों रणवीर भी कुछ मास का था। इतना-सा था यह। अब तो बड़ा हो गया है। 'आर्य-गज़ट' में काम करते-करते मैं इसका सम्पादक भी बना। कितने ही वर्ष बीत गए। सन् १९२१ तक 'आर्य गज़ट' में सम्पादक-पद पर कार्य किया। तभी मालाबार में मोपला-विद्रोह हुआ। यवनों ने ढाई हज़ार हिन्दुओं की गर्दनें काट डालीं। दो हज़ार हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना लिया। महात्मा हंसराज जी की आज्ञा से रिलीफ़ का काम करने के लिए वहाँ पहुँचा। वहाँ से लौटा तो प्रतीत हुआ कि देश के पत्र कुछ संवादों को प्रकाशित नहीं करते।

विपरीत प्रकार का हिन्दू-मुस्लिम-एकता का सिद्धान्त बनाकर सबको दबा देना चाहते हैं। हिन्दुओं पर कोई अत्याचार भी हो तो उनकी बात कोई छापना नहीं चाहता। मैंने अनुभव किया कि इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम-एकता कभी होगी नहीं। हिन्दू-मुस्लिस-एकता आवश्यक है किन्तु यह एकता तब हो सकती है, जब हिन्दू भी इतने संगठित हों जितने कि मुसलमान हैं। अन्यथा पत्थर और मिट्टी का मिलाप होता नहीं। पत्थर और पत्थर का मेल हो सकता है।

इस विचार को हृदय में रखकर मैंने 'मिलाप' पत्र (अखबार) का प्रकाशन प्रारम्भ किया, इसलिए कि देश में मिलाप की, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की, हिन्दू-हिन्दू-मिलाप की, आचरण को उन्नत करने की, सदाचार को प्रोत्साहन देने की, सत्य-रक्षा की और मानवता की रक्षा की आकांक्षा उत्पन्न की जाए। यह आदर्श लेकर 'मिलाप' जब निकाला तो कई लोगों ने कहा कि इस अकेले व्यक्ति से क्या पत्र (अखबार) चलेगा! एक-दो सप्ताह की बात है, फिर बन्द हो जाएगा। परन्तु एक-दो सप्ताह तो नहीं, 'मिलाप' को चलते पूरा एक वर्ष हो गया, तो कुछ लोगों ने कहना आरम्भ किया कि कहीं से रुपया ले लिया होगा, तभी तो पत्र (अखबार) चलता है। परन्तु यह बात तो ठीक नहीं थी। कभी किसी से कोई रुपया मैंने लिया नहीं। 'मिलाप' यदि चलता था तो किसी के रुपये से नहीं, प्रत्युत ईश्वर की कृपा से। 'मिलाप' सफल हुआ तो इसके बाद 'हिन्दी मिलाप' भी निकला। लोगों ने कहा, 'अब इसका अन्त आ गया है।' किन्तु अन्त आया नहीं। 'हिन्दी मिलाप' में लगभग एक लाख रुपया घाटा डाला गया। इतना होते हुए भी चलता रहा। अब भी चलता है। तब भगवान् की कृपा होने लगी। ताँगें, मोटर-गाड़ियाँ, गाय, भैंस, सभी-कुछ आ गया। बेटे हुए, बेटियाँ भी, धन-दौलत, लाखों की सम्पत्ति—यह सब-कुछ मिला, क्योंकि गायत्री माँ ने कहा है कि मैं सब-कुछ देती हूँ—धन-दौलत, बल, कीर्ति, सब-कुछ। माँ की कृपा से यह

सब-कुछ मिला। उन्हीं दिनों लाहौर के अन्दर यूनीवर्सिटी-हाल में पंजाब के गवर्नर पर गोली चली। चार युवक पकड़े गए। उनपर गवर्नर की हत्या करने की साज़िश का अभियोग चला। रणवीर भी उनमें से एक था। सैशन जज ने फाँसी के दण्ड की आज्ञा सुना दी। तभी एक और दुर्घटना हुई। मैं राजेन्द्रनगर आर्यसमाज के उत्सव पर गया हुआ था। एक पत्थर से पाँव रपट गया। मैं पहाड़ के नीचे जा गिरा। रीढ़ की हड्डी टूट गई। घायल होकर मैं लाहौर पहुँचा। सारा धड़ प्लास्टर में जकड़ दिया गया। एक तख्त पर मुझे लिटा दिया गया। हिलना निषिद्ध था। हिला जाता भी न था। लोग रणवीर को फाँसी की आज्ञा होने के कारण मेरे पास सहानुभूति-प्रदर्शन के लिए आने लगे। सीढ़ियों पर चढ़ते समय वे रोनी-सी सूरत बना लेते, वाणी को भारी कर लेते, आँखों में आँसू ले आते, किन्तु जब वे मेरे पास आते तो मैं उन्हें हँसता हुआ मिलता। वे मुझे मुस्कराता हुआ देखते तो आश्चर्य से कहते—'तेरी छाती में हृदय है या पत्थर ? बेटे को फाँसी की आज्ञा हो गई है, स्वयं तख्त पर पड़ा है, फिर भी हँसता है ?' तो मैं विश्वास के साथ कहता—'सुनिये ! यदि मेरा कल्याण इसमें है कि मेरा बच्चा बच जाए तो संसार की कोई शक्ति उसको मुझसे छीन नहीं सकेगी।' लोग रोते थे रणवीर के लिए, परन्तु मैं तो नहीं रोया। एक भी आँसू मेरी आँखों से नहीं निकला। एक दिन सत्तदेव जी अनारकली में मुझे मिले। वे महाराज जम्मू-कश्मीर के गुरु थे। मेरे पिताजी के साथ और मेरे साथ उन्हें बहुत प्रेम था। गाड़ी में बैठकर वे सामने से आ रहे थे। मैंने हँसकर उन्हें नमस्ते की गाड़ी रोककर वे नीचे आ गए ; बोले—'खुशहालचन्द ! तेरा रणवीर अब तेरे पास आया ही समझ।' रणवीर उन दिनों जेल में मृत्यु पर विजय पानेवाले मन्त्र का जाप कर रहा था। मैंने समझा—स्वामीजी इस जाप का वर्णन कर रहे हैं या फिर आत्मिक शक्ति से ऐसी बात कह रहे हैं। हंसकर उनसे पूछा—'क्या आपने ध्यान में ऐसी बात

देखी ?' वे बोले—'नहीं। तेरा मुख देखकर यह बात समझ में आई। जो इतनी विपत्ति सहकर भी इस प्रकार प्रसन्नचित्त रह सकता है, इस प्रकार हँस सकता है, उसके बेटे को उससे छीन कौन सकता है ?' और यह बात ठीक हुई। रणवीर का बाल भी बाँका न हुआ।

परन्तु गायत्री माता केवल लोक ही नहीं, परलोक भी देती है। लोक और परलोक दोनों का सुधार करती है। आत्मा को पवित्र करनेवाली वह माता आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, सम्पत्ति देती और ब्रह्मलोक को ले जाती है। इसलिए कीर्ति, धन-सम्पत्ति, सन्तान—बेटे-बेटियाँ, मोटरें, सम्बन्धी आदि सब-कुछ देकर इस प्यार-भरी गायत्री माँ ने कहा—'मार सबको लात, मेरे साथ आ ! मैं ब्रह्मलोक में ले चलूँगी।' सबको छोड़कर मैं गेरुए वस्त्र पहनकर माँ के दिखाए हुए मार्ग पर चल पड़ा।

आठ-नौ वर्ष की उस छोटी-सी अवस्था से लेकर सत्तर वर्ष की अवस्था तक, हाँ, सत्तर वर्ष का हो गया है यह शरीर···मैं नहीं, मैं तो आनन्द स्वामी हूँ। आनन्द स्वामी की अवस्था केवल चार वर्ष साढ़े तीन महीने हुई है आज, किन्तु शरीर की आयु के इन वर्षों में, बासठ वर्ष तक एक भी दिन मुझे ऐसा याद नहीं कि जब मैंने गायत्री माँ की गोद में बैठकर अमृत न पिया हो। यह सारी कहानी मैंने आपको इसलिए सुनाई कि गायत्री-महिमा को आपके सामने रख सकूँ। आजकल कलियुग है अवश्य, किन्तु कलियुग में भी गायत्री-उपासना करने से वह सब-कुछ मिलता है जो भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को बताया था, जो शिव ने पार्वती को बताया, जो दूसरे ऋषियों और महात्माओं ने संसार को बताया था, जो जगद्गुरु शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द ने बताया, जो गांधी और टैगोर ने बताया, लोकमान्य तिलक तथा परमहंस श्री रामकृष्ण ने बताया। वह असत्य नहीं। केवल कहने की बात नहीं। वह सत्य है, मैंने जीवन में स्वयं अनुभव करके देखा। मैं कहता हूँ—वह सत्य है, सत्य है, सत्य है !

परन्तु इससे पहले कि जाप में सफलता मिले, आवश्यक है कि ईश्वर के जिन गुणों को तुम याद करते हो उन्हें स्वयं भी अपनाने का यत्न करो। यदि तुम उसे ओ३म् कहते हो, रक्षक मानते हो तो स्वयं भी किसी की रक्षा करो। तुम उसे 'भूः' कहते हो, प्राणाधार मानते हो, तो स्वयं भी किसी के प्राणाधार बनने का यत्न करो। तुम यदि उसे 'भुवः' कहते हो और दुःखों का विनाशक समझते हो तो यत्न करो कि तुम स्वयं व्यर्थ में अपने लिए दुःख की उत्पत्ति न करते जाओ। यत्न करो कि दूसरों के दुःख दूर हों। तुम यदि उसे 'स्वः' कहते हो, सुखों का दाता मानते हो तो यत्न करो कि तुम्हारे कारण से दूसरों को भी सुख होवे। यह है वास्तविक विधि गायत्री-उपासना की, इस परम पुण्य मन्त्र के जाप की। मीरासी और भाट की तरह केवल ईश्वर को उसके गुण न बताते जाओ, इन गुणों को अपने अन्दर धारण करने की कोशिश भी करो।

जाप करने का अभिप्राय यह है कि जिन गुणों को तुम अपने अन्दर लाना चाहते हो, उन्हें बार-बार याद करो। स्कूल के बच्चे जैसे अपना सबक रटते हैं, इस तरह रटो, सोच-समझकर रटो।

कुछ लोग कहते हैं कि क्यों जी! बार-बार एक ही बात कहने का क्या लाभ है? एक ही बार ईश्वर को क्यों न कह दें कि हमें सीधे रास्ते से ले चल, हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे?

ऐसे लोगों को मैं पूछता हूँ कि जब किसी आदमी को मलेरिया हो जाए तो क्या तुम एक ही बार उसको कुनीन देकर बस कर देते हो? क्यों नहीं ऐसा करते कि रोगी को एक बार कुनीन दे दी और उसके बाद उसे छोड़ दिया, चाहे वह मरे या जिये? नहीं, ऐसा नहीं किया जाता। कुनीन की आवश्यकता तब तक रहती है जब तक मलेरिया के कीटाणु शरीर में विद्यमान हैं। बार-बार जिस प्रकार से कुनीन खानी पड़ती है, उसी प्रकार आत्मा के ऊपर जमा हुआ पापों का मैल जब तक दूर न

हो जाए, विषय और विकार के विषाणु जब तक समाप्त न हो जाएँ, घूँघट के पट जब तक खुल न जाएँ, तब तक जाप करना पड़ता है, बार-बार करना पड़ता है। यह सब-कुछ कब तक होगा ? हृदय की गाँठें कब खुलेंगी ? पाप का अँधेरा कब दूर होगा ? इच्छा तथा वासनाओं की अग्नि कब बुझेगी ? यह अपने-आपसे पूछो। प्रत्येक व्यक्ति का रोग भिन्न-भिन्न होता है। अतः प्रत्येक मनुष्य के जाप की संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु जब तक यह अवस्था उत्पन्न न हो जाए तब तक जाप करना होगा। गायत्री माँ की उपासना करनी होगी। उसको छोड़कर दूसरा साधन नहीं।

लोहे का गोला होता है न ? इसे आग में डालने से जिस प्रकार वह अग्नि-जैसा हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मा के गुणों को बार-बार याद करने से, इन गुणों को अपने अन्दर धारण करने का यत्न करने से आत्मा भी परमात्मा के समीप पहुँचता है; उस सुख तथा आनन्द को प्राप्त करता है, जो केवल परमात्मा के पास है। किन्तु इससे पहले कि ऐसा हो, परमात्मा के गुणों को कुछ तो अपनाने का यत्न करो ! कुछ-कुछ तो तुम भी यह सब-कुछ करो जिसे वह करता है !

यह है गायत्री मन्त्र के उन पहले चार शब्दों की महिमा। इसके बाद उसके तीन भाग होते हैं—

पहला भाग है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्'

दूसरा भाग है—'भर्गो देवस्य धीमहि'

तीसरा भाग है—'धियो यो नः प्रचोदयात्।'

यह तीन भाग वाला चौबीस अक्षरों का गायत्री मन्त्र है। इसके एक भाग की महिमा का वर्णन एकादशाक्षी (ग्यारह आँख वाले) मौद्गल्य और ग्वाल मैत्रेय के प्रश्नोत्तर में आता है। मौद्गल्य को ग्यारह आँख वाला कहा जाता था तो इसलिए नहीं कि उसके चेहरे पर दो के स्थान पर ग्यारह आँखें थीं, अपितु इसलिए कि योग की शक्ति ने उसके अपने मन में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

और पाँच कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवें मन की आँख को खोल दिया था, इसीलिए एकादशाक्षी अर्थात् ग्यारह आँखों वाला कहते थे उसे। ग्वाल मैत्रेय प्रश्न करते हैं और मौद्गल्य उत्तर देते हैं। इस प्रश्नोत्तर को पूर्णरीति से विस्तारपूर्वक कभी फिर सुनाऊँगा। आज केवल इन शब्दों का वर्णन करता चाहता हूँ जो पहले और दूसरे भागों में आते हैं। इनमें एक शब्द है—'सविता'। सविता परमात्मा की वह शक्ति है जो सृष्टि को बनाने के लिए प्रकृति को प्रेरणा देती है। इस समय वह सोई हुई प्रकृति को प्रेरणा करके कहती है कि 'जाग! मुझे सृष्टि की रचना करनी है।' 'सविता' के कितने ही अर्थ शास्त्रों में आते हैं—उत्पन्न करनेवाला, जगानेवाला, गर्भ से मुक्ति दिलानेवाला, प्रकट करनेवाला, प्रकट हुए का विनाश करनेवाला आदि इसके अर्थ हैं। सबके लिए एक शब्द 'सविता' रक्खा गया। सविता वह सबसे बड़ी शक्ति है, सृष्टि की वह आदि शक्ति है, भगवान् की वह महामाया है जिससे यह सब-कुछ बन रहा है, जिससे यह सब-कुछ बनता है। गायत्री मन्त्र का देवता भी 'सविता' है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर विराजमान वह लगातार प्रेरणा करता है, बच्चों को भी, बूढ़ों को भी; जो अच्छा काम करते हैं उनको भी। वह सदा अन्दर से पुकारता रहता है। सविता भगवान् की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह मनुष्य से बातें करता है।

भगवान् की बातें करना कुछ लोगों को बहुत विचित्र-सा प्रतीत होगा, विशेषतः उन व्यक्तियों को जो मेरी तरह भगवान् को निराकार मानते हैं। शब्द भी तो एक आकार है! 'निराकार में शब्द कैसे हो सकता है?' ऐसा वे पूछते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द के इन शब्दों को सुनिये तो मालूम होगा कि भगवान् वास्तव में बातें करता है। महर्षि 'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें समुल्लास में कहते हैं—'और जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकारादि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय

जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।'

इस प्रकार परमात्मा भीतर से प्रेरणा करता है। वह ध्वनि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर से उठती है। जो भी सुनना चाहे वह उसको सुन सकता है। किन्तु अन्दर की ध्वनि को सुनने के लिए पहले बाहर की ध्वनि को बन्द करना पड़ता है।

एक कमरे में एक सज्जन बैठे थे। दीवार पर घड़ी लगी हुई थी। लगातार चलती हुई वह टकटक कर रही थी। वह सज्जन इसकी टकटक को सुन रहे थे। बाहर गली में ऊँची ध्वनि से बाजे बजने लगे। इन सज्जन को घड़ी की ध्वनि आनी बन्द हो गई। भयभीत होकर उन्होंने नौकर को बुलाकर कहा—'देखो तो, सम्भवतः यह घड़ी चलनी बन्द हो गई है। इसकी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती।' नौकर ने ध्यान से घड़ी को देखा। वास्तविक बात को समझकर बोला—'घड़ी बन्द नहीं हुई। बाहर की ध्वनि इतनी अधिक है कि इसकी टकटक सुनाई नहीं देती।'

मनुष्य का यह मन एक कमरा है। इसके अन्दर परमात्मा की ध्वनि घड़ी की तरह लगातार टकटक करती है, लगातार बोलती है किन्तु बाहर की इच्छाओं और वासनाओं के जो बाजे बजा रक्खे हैं उन्होंने इस ध्वनि को दबा दिया है। अन्दर के पट तब खुलें, जब बाहर के पट बन्द हों।

बाहर के पट बन्द करने से ही घूँघट के पट खुलते हैं; तब प्रियतम प्रभु का दर्शन होता है। तब उनकी ध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि ही 'सविता' है जो लगातार प्रेरणा करता है, जो आदि शक्ति है, जिसकी प्रेरणा से यह अनन्त प्रकृति जाग उठी। उसकी कृपा हो जाए तो मनुष्य को कल्याण का मार्ग क्यों नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा! इस शक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं, किन्तु इसे सुनना चाहिए, समझना चाहिए।

पाँचवाँ दिन

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

चार दिन हो गए गायत्री के विषय में कहते हुए। 'ओ३म् भूः भुवः स्वः' इन चार शब्दों का अर्थ क्या है, यह आपको बताया। गायत्री के तीन भाग क्या हैं, तीन चरण क्या हैं, यह भी बताया। अब बात हो रही थी 'सविता' की, जो गायत्री का देवता है और गायत्री मन्त्र में चमकते हुए हीरे की तरह वर्तमान भी है। आज कुछ और कहने से पूर्व मैं आपको गायत्री के अर्थ सुनाना चाहता हूँ जो महर्षि दयानन्द जी महाराज ने किये हैं और बहुत ही विस्तार से किये हैं। मैं केवल वह संक्षिप्त अर्थ सुनाने लगा हूँ जिसको महर्षि ने 'पंच-महायज्ञविधि' में दिया है—'जो सारे जगत् को पैदा करनेवाला और ऐश्वर्य को देनेवाला है, जो सबकी आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, जो ग्रहण करने के सर्वथा योग्य है, जो शुद्ध विज्ञानस्वरूप है उसको हम पूर्ण भक्ति से विश्वास में लाकर अपनी आत्मा में धारण करें, जिससे कि वह सविता देव, परमेश्वर कृपा करके हमारी बुद्धियों को बुरे कामों से अलग करके सदा अच्छे कामों में लगाता रहे।'

जैसा कि मैंने पहले ही कहा, यह 'सविता' शब्द 'यजुर्वेद' में बार-बार आया है। सविता भगवान् की वह शक्ति है जो सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति को प्रेरणा करके जगाती है, आज्ञा देती है—'जाग ऐ मूर्च्छित प्रकृति ! मेरे मानव-कल्याण के लिए जाग !' किन्तु इसी समय तो 'सविता' शक्ति प्रेरणा नहीं करती, अपितु सर्वदा ही करती है। वह जन्म देनेवाली शक्ति है, पालनेवाली शक्ति है, नष्ट करनेवाली शक्ति है। यह गर्भ में लानेवाली और गर्भ से मुक्ति दिलानेवाली ईश्वर की कृपा से पूर्ण शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा परमात्मा मनुष्य को बराबर प्रेरणा करता रहता है। 'सत्यार्थप्रकाश' के ७वें तथा ९वें समुल्लास में महर्षि ने इस

प्रेरणा का वर्णन किया है। सातवें समुल्लास की बात मैं कल आपको 'सत्यार्थप्रकाश' से पढ़कर सुना चुका हूँ, जिसमें देव दयानन्द ने स्पष्ट बतलाया है कि वह अन्दर से पैदा होनेवाली प्रेरणा जीवात्मा की ओर से नहीं, अपितु परमात्मा की ओर से है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा पर आचरण करता है, वह मुक्ति से मिलनेवाले सुखों को प्राप्त करता है। इसी प्रकार ९वें समुल्लास में भी लिखा है।

परमात्मा की शिक्षा का अभिप्राय है 'परमात्मा की वाणी'; इसकी ओर से हुई यह प्रेरणा सर्वदा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने-वाली उस शक्ति का ही नाम सविता है। गायत्री मन्त्र का जाप करते समय 'सविता' का ध्यान करना चाहिए। वह महान् शक्ति जो पैदा करती है और पालती है, जो विनाश और मोक्ष दोनों को देनेवाली है, जो बराबर प्रेरणा करनेवाली है, जो सदा कल्याण की ओर जाने का मार्ग बताती है, बुरे मार्ग पर जाने से रोकती है, उसका ध्यान करना चाहिए।

किन्तु केवल ध्यान करने से सारा काम नहीं बनता। भगवान् को यदि यह प्रेरणा करनेवाली, कल्याण की ओर ले-जानेवाली शक्ति कहते हैं, तो हमें स्वयं भी दूसरों को कल्याण की ओर जाने की प्रेरणा करनी चाहिए। यदि आपको विदित है कि गाय का दूध पीने से, दही खाने से, पनीर खाने से शरीर को किस प्रकार लाभ पहुँचता है, तो दूसरों को भी यह बात बताइये। यदि आपके पास किसी रोग को दूर करने की कोई ओषधि है, तो उसे छुपाकर मत रखिये, लोगों को बताइये, जिससे कि उनका कल्याण हो। यह 'सविता' की उपासना का स्वरूप है।

जब तक आर्य जाति इस प्रकार से 'सविता' की उपासना करती रही, जब तक वह दूसरों को उनके कल्याण का मार्ग बताती रही, तब तक इस पृथिवी पर आर्यों का चक्रवर्ती सार्वभौम राज्य रहा। अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका, अफग़ानिस्तान, पाकिस्तान, बिलोचिस्तान, ईरान, ये सब आपके ध्वज के नीचे रहे। किन्तु

जब से हमने दूसरों को प्रेरणा देनी बन्द कर दी, जब से हमने अपने-आपको सीमित करना आरम्भ किया और अपने ज्ञान को रहस्य बनाना आरम्भ किया, तभी से देश की और जाति की अवनति आरम्भ हुई। आप कहेंगे यह तो राजनीति की बात है, गायत्री मन्त्र के साथ इसका सम्बन्ध क्या? किन्तु मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि गायत्री, लोक और परलोक दोनों का सुधार करती है। राजनीति इस लोक का एक भाग है। गायत्री का जाप और उसकी उपासना राजनीति में भी सफलता देती है। यदि वह सफलता चाहते हो तो 'सविता' के रूप को समझकर उसके गुण को अपने अन्दर धारण करो। 'सविता' प्रेरणा करती है, तुम भी करो। आपने विष्णु भगवान् की प्रतिमा देखी होगी। उसकी चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म रहते हैं। यह शंख क्या है? प्रेरणा की शक्ति, प्रचार करने की भावना, अपने विचारों को फैलाने की इच्छा। यह शंख 'सविता' का एक ठोस रूप है। भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति जाग उठी थी। आपकी प्रेरणा से भी बहुत-कुछ हो सकता है। अतः गायत्री मन्त्र में 'सविता' शब्द के आते ही न केवल महान् प्रेरणा करनेवाली शक्ति का ध्यान करो, अपितु यह भी निश्चय करो कि मुझे भी प्रेरणा करनी है। किसी का जितना भी कल्याण मुझसे हो सकता है, मुझे वह करना है। सविता के पश्चात् दूसरा शब्द है 'वरेण्यम्'। इसका अर्थ है 'वरण करने योग्य'—किसी को अपना लेना, उसे स्वीकार कर लेना और अपने-आपको उसके अर्पण कर देना।

भक्त इस शब्द को बोलता हुआ कहता है—'हे सविता! हे सर्व-प्रेरक! सोई हुई प्रकृति को आदि-सृष्टि में जगानेवाले! सारे संसार को चलानेवाले! मैं तो यत्न करते-करते थक गया। अब शक्ति नहीं, बल नहीं। एक भी और पग मुझसे उठाया नहीं जाता। हारकर, थककर मैं तुम्हारे चरणों में आ गिरा हूँ। हे सविता देव! विशाल संसार के सृष्टिकर्ता! तुझे यदि थकान

नहीं हुई, यदि केवल एक संकेत से तूने इस अपार सृष्टि की रचना कर दी, तो क्या मेरे लिए थोड़ा-सा प्रयास नहीं कर सकता? तूने सोई अपार प्रकृति को जगा दिया भगवन्! तो फिर मेरे लिए क्यों सो गया? कब मुझे अपने मार्ग का अनुगामी करेगा? कब प्रेरित करेगा मुझे? कब करेगा ऐ स्वामी? ऐ प्रभो! ऐ प्रीतम प्यारे!

और यह सृष्टि कितनी विशाल है, मेरी माँ! मेरी बच्ची! इसका कभी ध्यान करके देखो। हिमालय की एक कन्दरा में ही कितनी जड़ी-बूटियाँ और वनस्पतियाँ हैं, इसकी कभी कोई गिनती नहीं कर सका; फिर सारे हिमालय पर क्या कुछ है, इसकी गिनती कौन करेगा? परन्तु यह हिमालय तो संसार का छोटा-सा भाग है। इतने बड़े समुद्र हैं पृथिवी पर जिनमें कई-कई हिमालय डूब सकते हैं। इतनी नदियाँ हैं। पृथिवी को बने पौने दो अरब वर्ष बीत जाने के बाद आज भी कितने ही प्रदेश ऐसे हैं जहाँ मनुष्य पहुँच नहीं पाया, कम-से-कम आज का मनुष्य तो पहुँच नहीं पाया; परन्तु यह विशाल पृथिवी सूर्य की तुलना में एक तुच्छ-सा गोला है। तेरह लाख गुणा बड़ा है यह तपनेवाला सूर्य। हमारी पृथिवी-सी तेरह लाख पृथिवियाँ इसमें समा सकती हैं। बहुत बड़ा हुआ न सूर्य! है न मेरी बच्ची? परन्तु सूर्य से भी बड़ा है अगस्त तारा—उस विशाल सूर्य से, जिसमें तेरह लाख पृथिवियाँ समा सकती हैं। अगस्त तारा एक करोड़ गुणा बड़ा है। परन्तु अगस्त से भी बड़ा है एक और तारा जिसे ज्येष्ठ कहते हैं। इससे भी बड़ा और कोई परम ज्येष्ठ तारा है या नहीं, इसका क्या पता? इतनी विशाल है यह सृष्टि। है कोई अन्त इस विशालता का? है कोई सीमा इस सृष्टि की? जिसने अपनी एक छोटी 'सविता' शक्ति से इतनी विशाल सृष्टि की रचना कर दी, उसकी शक्ति का अन्त कहाँ है? वह यदि यह सब-कुछ कर सकता है तो क्या मुझे कल्याण के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता? मैंने उसे वर लिया है। मैंने अपने-आपको उसके

अर्पण कर दिया है।

सपुर्दम बतो माया-ए-खेश रा
तू दानी हिसाबे कमो बेश रा

ऐसा गणितज्ञ है तू, ऐसा ऑडीटर है, और ऑडीटर भी राजकीय (सरकारी)। ऐसा अकाउण्टेण्ट है कि तेरे गणित में कभी कोई त्रुटि नहीं होती। अब तू जान बाबा, और तेरा काम। मुझे कुछ पता नहीं। मैं कुछ नहीं, तू ही सब-कुछ है।

कुछ लोग सोचते हैं कि हम जो कुछ सोचते हैं वही ठीक है, परन्तु केवल हमारे सोचने से तो कुछ होता नहीं। हमारी सरकार ने बहुत प्रचार किया—'अधिक अन्न उपजाओ!' इस आन्दोलन पर बहुत रुपया व्यय किया। प्रचार किया—'अच्छे बीज लाओ! अच्छे खाद लाओ! ट्रैक्टर लाओ! मशीनें लाओ!' परन्तु असम में एक ही दिन की बाढ़ ने एक हज़ार वर्ग मील में लहलहाते खेतों को समूलोन्मूल कर डाला।

मैं यह नहीं कह रहा कि हमें यत्न नहीं करना चाहिए। यत्न करना चाहिए अवश्य! यत्न करना हमारा धर्म है। परन्तु यत्न करना चाहिए ईश्वर पर भरोसा करके। मत समझो कि जो कुछ मैं सोचता हूँ वही ठीक है। यह बात ठीक नहीं है। यत्न करो अवश्य! मेहनत करो, पसीना बहा दो, दिन-रात एक कर दो, परन्तु याद रक्खो—फल देने का अधिकार भगवान् के पास है। इस बात का निर्णय उसे करना है कि वह तुम्हारे कर्म का फल आज देगा या वर्षों में, अगले वर्ष देगा या अगले जन्म में।

कई लोग कहते हैं कि भाई! हम श्रम बहुत करते हैं, यत्न बहुत करते हैं, परन्तु पैसा इकट्ठा नहीं होता। पता नहीं कि पैसा इकट्ठा करने का लाभ क्या है? जो इकट्ठा करके व्यय नहीं करता और जिसके पास इकट्ठा करने को कुछ नहीं, क्रियात्मक रूप से वे दोनों समान हैं। 'पंजाब नेशनल बैंक' का चौकीदार और वह धनी जिसका लाखों रुपया बैंक में जमा है, दोनों में अन्तर क्या है? दोनों के पास रुपया पड़ा है। दोनों व्यय

नहीं करते। एक अन्तर है अवश्य कि 'पंजाब नेशनल बैंक' का चौकीदार अपने कार्य (ड्यूटी) को समाप्त करने पर जाता है तो टाँग पर टाँग रखकर आराम से सो जाता है। उसे कोई चिन्ता नहीं; उसकी तरफ से बैंक रहे या जाए, उसे कोई भय नहीं। किन्तु वेचारा वह धनी जिसका रुपया बैंक में पड़ा है, क्या वह भी आराम से सो सकता है? नहीं। चौकीदार जब आराम से सोया होता है, तब भी धनी चिन्ता करता रहता है कि कहीं ताला न टूट जाए! कहीं बैंक में आग न लग जाए! कहीं ऐसा न हो कि मैं मर जाऊँ और मेरा रुपया पड़ा का पड़ा रह जाए! किन्तु फिर भी जो शिकायत करते हैं कि परिश्रम के बाद धन नहीं मिलता, उन्हें मैं कहता हूँ कि चिन्ता न करो, धन मिलेगा अवश्य! जो मनुष्य पुरुषार्थ करता है, परमात्मा उसे धन देता है अवश्य! किन्तु कब देता है, यह मैं नहीं जानता और न कोई दूसरा जानता है। मैं केवल यह कहता हूँ—भगवान् पर भरोसा रक्खो। वह जो कुछ करता है तुम्हारे कल्याण के लिए करता है।

अभी दो वर्ष पूर्व ही हमारे देशबन्धु जी गुप्ता वायुयान में सवार होकर दिल्ली से कलकत्ते की ओर रवाना हुए। 'अखिल भारतीय पत्र समिति' की स्टैंडिंग कमेटी का अधि वेशन हो (कानफरेंस) रहा था। इसमें उन्हें पहुँचना था। इसी अधिवेशन में महात्मा गांधी के सुपुत्र और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रबन्ध-सम्पादक (मैनेजिंग एडीटर) श्री देवदास गांधी भी जाना चाहते थे, किन्तु उन्हें सीट नहीं मिली। बड़ी दौड़धूप की उन्होंने, कई यात्रियों को जाकर. कहा—'बाबा! मुझे आवश्यक कार्यवश कलकत्ते पहुँचना है। तुम कल चले जाना, मुझे अपना स्थान दे दो!' किन्तु किसी ने इनकी बात न मानी। देवदास जी वहुत दुःखी हुए। उन लोगों के विषय में जिन्होंने सीट नहीं दी, मन-ही-मन सोचते—'कैसे सहानुभूतिरहित मनुष्य हैं! मुझे इतना आवश्यक कार्य था वहाँ, ये लोग छोटी-सी प्रार्थना भी मान नहीं सके!' किन्तु दूसरे दिन प्रातः ही कुछ अन्धकार में यह वायुयान

जब कलकत्ता के पास पहुँचा तो आकाश में धुन्ध बहुत थी। नीचे उतरने का मार्ग उसको मिला नहीं। समुद्र के किनारे नारियल के वृक्षों का जंगल था। इन वृक्षों से जा टकराया वह। जहाज़ चकनाचूर हो गया! आग लग गई! कोई भी यात्री बचा नहीं। हमारे देशबन्धु का अन्त हो गया। यह हृदय-विदारक सूचना जब दिल्ली में पहुँची तो देवदास जी चौंक उठे। इसी वायुयान में वे भी जानेवाले थे। इसमें जाने के लिए उन्होंने दौड़धूप की थी। सीट न मिलने पर अपने भाग्य को कोसा था। किन्तु तब सम्भवतः उन्होंने सिर झुकाकर कहा—'धन्यवाद है तेरा भगवन्, कि मैं उस वायुयान में नहीं था।' हाँ मेरी माता! भगवान् बहुत दूर तक देखता है। हमारी क्या शक्ति कि इतनी दूर तक देख सकें! और यही नहीं देख सकते तो फिर इस बात की चिन्ता क्यों करें कि वह क्या करता है और कब करता है?

एक और बात तुमको सुनाता हूँ—एक बार मेरे पिताजी बहुत रुग्ण हो गए। मुझे विदित हुआ तो मैं लाहौर से जलालपुर जट्टाँ की ओर चल पड़ा। गाड़ी में सवार होने से पूर्व अपने छोटे भाई लाला त्रिलोकचन्द को 'खारियाँ' में तार दे दिया कि पिता जी रुग्ण हैं और मैं वहाँ पहुँच रहा हूँ। लाला त्रिलोकचन्द 'खारियाँ' में वकालत करते थे। तार पहुँचा तो वे कचहरी में खड़े एक अभियोग (मुकद्दमे) के सम्बन्ध में वाद-विवाद कर रहे थे। तार को पढ़ते ही उन्होंने मुन्शी को कहा—'अभी सवा तीन बजे हैं, साढ़े तीन बजे गुजरात के लिए लारी जाती है। लारीवाले को कहो कि मेरे लिए सीट रक्खे। मैं बहस समाप्त करके अभी आता हूँ।' किन्तु बहस हो गई कुछ लम्बी। साढ़े तीन बजे समाप्त नहीं हुई। बसवाले ने सूचना भेजी—'समय हो गया।' लाला त्रिलोकचन्द ने कहा—'थोड़ी देर ठहरो, मैं अभी आता हूँ।' लारीवाले ने कुछ समय तक और प्रतीक्षा की। पौने चार बज गये, किन्तु बहस फिर भी समाप्त नहीं हुई। दूसरे वकील ने कोई नई बात उपस्थित कर दी। उसका उत्तर देना आवश्यक था।

लाला त्रिलोकचन्द ने लारीवाले के पास फिर सन्देश भेजा, परन्तु चार बजे भी छुटकारा नहीं मिला। चार बजे तक प्रतीक्षा करने के बाद लारीवाला यह कहकर चला गया कि अब और प्रतीक्षा नहीं की जा सकती, दूसरे यात्री तंग आ गए हैं। कोई साढ़े चार बजे के लगभग लाला त्रिलोकचन्द जी को छुटकारा मिला। बाहर आकर जब देखा कि लारीवाला चला गया है तो बहुत क्रोध में आए और अपने भाग्य को कोसा—'पिताजी रुग्ण हैं, मुझे जलालपुर पहुँचना है। अब पहुँचूँ कैसे ?' लारीवाले को कोसा—'इसे मैंने कत्ल के मुकद्दमे में बचाया था। यह बदला दिया इसने ? थोड़ी देर प्रतीक्षा भी न कर सका ? कैसे रूखे लोग हैं ! अब मैं क्या करूँ ? कैसे पहुँचूँ पिताजी के पास ?' इस प्रकार सोचते हुए वे निराश और उदास बने सड़क पर खड़े थे कि जेहलम की ओर से एक मोटर आती हुई दिखाई दी। मोटर के स्वामी लाला त्रिलोकचन्द जी के मित्र थे; मोटर में स्वयं बैठे थे; गुजरात जा रहे थे। लाला त्रिलोकचन्द को देखकर उन्होंने मोटर खड़ी कर ली। त्रिलोकचन्द से पूछा—'इतने उदास क्यों हो ?' उन्होंने सारी बात कह सुनाई और यह भी बताया कि जलालपुर में उनका पहुँचना आवश्यक है। मित्र ने कहा—'इसमें घबराने की क्या बात है ? लारी चली गई तो जाने दो, यह मोटर तो है। बैठो इसमें, मैं तुम्हें लेकर चलता हूँ।' किन्तु मोटर में बैठकर वे खारियाँ से छः मील की दूरी पर ही पहुँचे थे कि एक भयानक दृश्य उनके सामने आ गया। एक लारी सड़क की दाईं ओर उलटी पड़ी थी। दस यात्री मर गए थे। लारी चकनाचूर हो गई थी, वृक्ष टूट गया था। और यह वही लारी थी जो लाला त्रिलोकचन्द को लिये बिना चली आई थी; जिसके न मिलने के कारण लाला त्रिलोकचन्द उदास और निराश हुए थे। उसी समय उन्होंने भगवान् को धन्यवाद किया और हाथ जोड़कर कहा—'धन्य हो भगवन् ! तूने बचा लिया मुझे।'

अरे ! मत समझो कि सब-कुछ तुम्हीं जानते हो। तुमसे

अधिक ज्ञानी वह प्रभु है। उसकी आँख बड़ी है, तुम्हारी छोटी। जहाँ तक वह देखता है, वहाँ तक कभी तुम नहीं देख पाते। इसलिए उसपर भरोसा करो। वेद में मन्त्र आता है जिसका भाव यह है—

'हे अग्निदेव! ले चल मुझे सीधे रास्ते से! ले चल उधर जिधर तू चाहता है।'

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी इस विचार को प्रकट करते हुए कहा, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज' अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ। यह बात गायत्री में भी कही गई—'हे भगवन्, तुझे वरता हूँ।' अपने-आपको तेरे अर्पण करता हूँ। इसी को 'शरणागति' कहते हैं। यही नारद की 'अनन्य-भक्ति' थी। इसी को 'योग-शास्त्र में 'ईश्वर-प्रणिधान—अपने-आपको ईश्वर के अर्पण कर देना' कहा। इसी को महर्षि दयानन्द 'उपासना' कहते हैं।

इसका तात्पर्य इसके बिना और कुछ नहीं कि तेरे सामने बिक गया हूँ, मैं तेरा हो गया हूँ। आपने कई बार विवाह-संस्कार में पढ़े जानेवाले मन्त्र सुने होंगे। विवाह देखा होगा। हमारे पंडित जगतराम जी ने सम्भवतः सहस्रों विवाह कराए होंगे।

(पण्डित जगतराम आर्यसमाज अनारकली के पुरोहित थे, आजकल आर्यसमाज सीताराम बाज़ार, दिल्ली के पुरोहित हैं। स्वामीजी के सामने ही बैठे थे। स्वामीजी ने जब कहा कि उन्होंने सहस्रों विवाह कराए हैं, तो पास बैठे हुए सभी लोग हँस उठे। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—

"अपने नहीं, दूसरों के विवाह कराए हैं इन्होंने। स्वयं बेचारे विधुर हो बैठे हैं।" इसपर कितने ही लोग ऊँचे स्वर से हँस पड़े और स्वामीजी कहते रहे—)

पण्डित जगतराम जी आपको बता सकते हैं कि विवाह के मण्डप में पवित्र अग्नि के सामने कन्या वर को सम्बोधित करके कहती है—'आज से मैं तेरे पास बिक गई। आज से मैं तेरी हुई।' और वर भी कन्या को सम्बोधित करके कहता है—'आज से मैं

तेरे पास बिक गया। आज से मैं तेरा हुआ।' यह है गायत्री के इस 'वरेण्यम्' शब्द का अर्थ। अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर दो, बिक जाओ, उसके सामने सिर झुका दो और कहो—

'सरे-तसलीम खम है जो मिजाजे-यार में आए।'

अब सुनिये यह 'भर्गः' क्या है? यह शब्द जो गायत्री के दूसरे भाग में वर्तमान है 'गोपथ ब्राह्मण' में इस शब्द की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद के मन्त्रों के रहस्य को खोलनेवाले हैं। 'गोपथ ब्राह्मण' में गायत्री के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी भेद की बातें प्रकट की गई हैं कि इन्हें देखकर आश्चर्य होता है। 'भर्गः' शब्द के दस अर्थ इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में लिखे हैं—जिससे बड़ा कोई न हो; 'भर्गः' अन्न को भी कहते हैं, पाप का नाश करनेवाला भी, भुना हुआ, पका हुआ भी, पृथिवी, अग्नि, वस्तु, वसन्त—इस प्रकार दस नाम गिनाए हैं और कहा कि ये सब 'भर्गः' है। पृथिवी के बिना मनुष्य का निर्वाह नहीं होता। पृथिवी न हो तो हम चलें कहाँ? खड़े कहाँ हों? अन्न कहाँ से हो? और अन्न न हो तो जियें कैसे? पृथिवी की इस विशेषता का अनुभव करके ही इसे 'भर्गः' कहा गया है। वसन्त ऋतुओं का राजा है इसलिए इसे 'भर्गः' कहा गया है। वसन्त को आदिऋतु भी कहते हैं। मनुष्य इस पृथिवी पर जब पहले-पहल जागा तो उसके चारों ओर वसन्त ऋतु थी। चारों ओर फूल खिले हुए थे। पिघली हुई बर्फ से नीले-नीले निर्झर गिर रहे थे। नदियाँ संगीत के साथ बह रहीं थीं। आम्रमंजरी पर कोयल कुहू-कुहू की मधुर ध्वनि कर रही थी। प्रकृति आनन्द-विभोर हो नाच रही थी। आकाश में विद्युत् और मेघ नाच रहे थे। इस सुन्दर ऋतुराज में संसार का प्रथम मनुष्य जाग उठा। तब से वसन्त सबसे उत्तम श्रेष्ठ भी है इसीलिए वह भी 'भर्गः' है। 'भर्गः' का अर्थ है सबसे अच्छा, जिससे अच्छा कोई न हो।

परन्तु 'भर्गः' शब्द के कुछ और भी अर्थ हैं—जीवन प्रदान करनेवाला, पका देनेवाला। इन अर्थों पर विचार करना चाहिए।

गायत्री का जाप करता हुआ उपासक जब 'भर्गः' शब्द पर पहुँचे, तब उसे अनुभव करना चाहिए कि वह सविता देव की उस शक्ति में प्रवेश कर रहा है जो सबसे महान् है, आनन्द देनेवाली है, पापों को जला देनेवाली है। उसे विचारना चाहिए कि उसके पापों का मल जल रहा है। महर्षि दयानन्द ने 'भर्गः' शब्द के अर्थ यह लिखे हैं—"जो उपद्रव-रहित, पाप-रहित, निर्गुण, शुद्ध, सकल दोषों से रहित, पका हुआ, परामर्थ साधन स्वरूप है, वह भर्गः है।" कवि कहता है—

जब ही नाम हृदय धर्‌यो,
भयो पाप का नाश।
जैसे चिनगी आग की,
परी पुरानी घास।

नाम को हृदय में धारण करने से पाप का नाश होता है अवश्य। इस प्रकार जल उठते हैं वे, जैसे पुरानी सूखी घास जल उठती है। ठीक भावना के साथ जाप करना चाहिए। किन्तु देखो, कवि ने 'हृदय धर्‌यो' कहा है। चित्त में धारण करने की बात कही है। होंठ धर्‌यो, ज़बान धर्‌यो, कण्ठ धर्‌यो नहीं कहा। केवल होंठों से जाप करते रहने से ही कुछ नहीं होता।

(स्वामीजी कहते रहे—)

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माँहि।
और मणिराम.............................?

(स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—'मणिराम कनॉट प्लेस में फिरे।' तो सब लोग हँस उठे।)

"माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माँहि।
मणिराम चहुं दिश फिरे, यह तो सिमरण नाँहि।।

नहीं, इस प्रकार तो स्मरण नहीं होता। मेरी माँ! इस प्रकार स्मरण और जाप नहीं होता। जाप होता है उस समय, जब माला, होंठ, जिह्वा, कण्ठ, चित्त और मन एक-साथ फिरें। इस प्रकार जो जाप करते हुए 'भर्गः' कहता है, उसके सभी पाप

जलकर राख हो जाते हैं। आनन्द और सुख का एक संसार उसके लिए जाग उठता है। इससे अधिक 'भर्गः' और क्या करे ?

अब गायत्री के दूसरे भाग में आइये, 'देव' शब्द की बात सुनिये। 'देव' का अर्थ है सबका 'शिरोमणि'—सबसे बड़ा। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के पहले समुल्लास में 'देव' शब्द के सम्बन्ध में ऐसे-ऐसे रहस्य खोले हैं जिन्हें देखने के पश्चात् और कुछ भी समझना शेष नहीं रहता। सोलह बातें उन्होंने 'देव' शब्द के सम्बन्ध में लिखी हैं। उन सबका वर्णन इस समय नहीं कर सकता। केवल एक अर्थ का वर्णन करता हूँ। 'देव' का अर्थ उन्होंने 'आनन्द का देनेवाला' किया। सूर्य प्रकाश और उष्णता देता है, पवित्रता और शुद्धता देता है, अतः वह देव है। जल मैले कपड़े को पवित्र करता है, प्यास बुझा देता है, खेतों को लहलहा देता है, बंजर भूमिभाग को पुष्पों से प्रफुल्लित कर देता है, वह भी हमारा देव है। इस प्रकार तेंतीस देवताओं का वर्णन आता है हमारे प्राचीन ग्रंथों में। बाद में तेंतीस देवता से तेंतीस करोड़ बन गए। किस प्रकार यह बात हुई ? तेंतीस देवता कौन-से हैं ? कभी समय मिला तो इन देवताओं के सम्बन्ध में वर्णन करूँगा। आज 'देव' शब्द के केवल एक ही अर्थ का वर्णन करता हूँ। वह अर्थ है, 'आनन्द देनेवाला'। देवताओं के पास जो कुछ है वह हमारे कल्याण के लिए है। वे देते हैं, इसलिए देव हैं। ईश्वर सबसे अधिक देता है, इसलिए सबसे बड़ा देव है—महादेव।

गायत्री का जाप करते समय 'देव' पर आओ तो यह अनुभव करो कि परमात्मा सब-कुछ दे रहा है; परन्तु केवल यह सोचने से और कहने से कि परमात्मा सब-कुछ देता है, यह देव है और महादेव है, तो कोई काम नहीं बनता। इसके साथ ही यह भी देखना चाहिए कि परमात्मा यदि देता है मैं यदि उसके सबसे बड़े गुण 'आनन्द' को प्राप्त करना चाहता हूँ, तो मेरा

भी कर्त्तव्य है कि मैं भी किसी को कुछ दूँ। मेरे पास यदि धन है तो इसपर साँप बनकर न बैठ जाऊँ। शक्ति है तो दूसरों की रक्षा करने से पीछे न हटूँ। ज्ञान है तो दूसरों को मार्ग बतलाने में कृपणता न करूँ। गायत्री-जाप की ठीक-ठीक विधि केवल एक है कि ईश्वर को 'देव' मानकर अनुभव करो कि वह सब-कुछ देता है, और फिर स्वयं भी दो। दीन को आश्रय, दुःखी को सान्त्वना, रोगी को ओषधि तुम भी दो। तुम भी देवता बनने का यत्न करो। 'गोपथ ब्राह्मण' के ऋषि ने गायत्री में 'तत्सवितुर्-वरेण्यम्' को तप का भाग कहा है। जब तूने वर लिया इस ईश्वर को, बिक गया तू उसके सामने तो फिर अपने लिए सुखों की याचना मत कर। दूसरों को सुख देने का कार्य स्वयं दुःख उठाए विना होता नहीं। इसलिए 'गोपथ ब्राह्मण' ने इस भाग को तप का भाग कहा है। स्वयं दुःख उठाकर दूसरों को सुख देना—यह तप है। माँ बच्चे को बिस्तर के सूखे भाग में सुलाती है ; स्वयं गीले भाग में सो रहती है—यह तप है गृहस्थाश्रम में। पति प्रयत्न करता है कि चाहे उसे दुःख ही होता हो, परन्तु पत्नी सुखी रहे। पत्नी यत्न करती है कि भले ही वह दुःख में रहे, किन्तु पति को आराम मिले—यह तप है। सन्तान होने पर माता-पिता दोनों प्रयत्न करते हैं कि सन्तान सुखी रहे, चाहे हम रहें या न रहें। यह भी तप है। जब भगवान् को वर लिया, तो सबसे पहले तप की यह भावना होनी चाहिए। यह पहली बात है, 'भर्गो देवस्य' की भावना। 'भर्गो देवस्य' के शब्द बोलो, तो निर्णय करो मन में कि मुझे दूसरों के कल्याण के लिए जीना है। अनुभव करो कि तुम भगवान् के सामने खड़े हो। वह दूसरों का हित करता है, उन्हें आनन्द देता है। इसीलिए तुम भी दूसरों का हित करो। उन्हें आनन्द दो। ऐसा करने से गायत्री का जाप सफल होता है।

यदि मैं जाप करता हूँ और तप की भावना, दूसरों का हित करने की भावना मेरे अन्दर पैदा नहीं होती, यदि मैं तप और

त्याग के मार्ग पर नहीं चलता तो याद रक्खो कि गायत्री के जाप से कोई काम नहीं होगा।

कई मनुष्यों ने एक-एक करोड़ जप किया। मेरे पास वे आते हैं और कहते हैं कि एक करोड़ मन्त्र जप लिये, फिर भी कुछ नहीं हुआ। अरे! हो कैसे? तुमने विज्ञान की पुस्तक पढ़ ली; प्रयोगशाला (लैबॉरेटरी) में जाकर प्रयोग नहीं किया। गायत्री का फल चाहते हो तो आओ! संसार की इस प्रयोग-शाला में गायत्री का जो जाप करो, उसपर आचरण भी करो। मैं ईश्वर को तो कहूँ 'देवता' और स्वयं 'लेवता' बनकर दूसरों की सम्पत्ति छीनता फिरूँ तो परमात्मा की कृपा कहाँ से मिलेगी? परमात्मा तुम्हारी माला से प्रसन्न नहीं होता, वह प्रसन्न होता है आचरण से। वह कृपा करता है उसपर जो उसके प्राणियों पर कृपा करता है।

पहले-पहल जब मैं गंगोत्री पहुँचा तो वहाँ के रहनेवाले महात्माओं से मिला। कुछ अत्यन्त तपस्वी महात्मा वहाँ रहते हैं। मैंने सोचा, ये लोग यहाँ बैठे हैं, नीचे संसार दुःखों की भट्टी में जल रहा है। इन्हें क्यों न कहूँ कि नीचे पहुँचे और अपने तप और योग से संसार का कल्याण करें! एक महात्मा से बात हुई तो उन्होंने कहा—'एक तू आया है ऐसी बात कहनेवाला, नहीं तो जो कोई आता है अपना ही दुखड़ा लेकर आता है। किन्तु सुनो आनन्द स्वामी! संसार हमारे लिए मर गया और हम संसार के लिए मर गए। हमें संसार से कुछ लेना नहीं।'

मैंने हँसते हुए कहा—'धन्य हो महाराज! आपने तो गुड्डी काट दी।' एक और महात्मा के पास गया। वे बोले—'तू कहता तो ठीक है। संसार वास्तव में अत्यन्त दुःखी है। हम इस बात को जानते भी हैं, किन्तु हम प्रार्थना के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं? हम कहीं जाते-आते नहीं। हम यहाँ बैठकर संसार के लिए प्रार्थना करते हैं।' तब मैं स्वामी रामानन्द के पास गया। स्वामी रामानन्द जी महान् तपस्वी हैं। सर्दी-गर्मी सदा ही

गंगोत्री रहते हैं। आजकल गंगोत्री में हिमपर्वत खड़े हैं। चारों ओर हिम ही हिम है। इसमें स्वामी रामानन्द कपड़े पहने बिना ही सर्वथा नग्न रहते हैं। हिम में रहने के कारण उनका शरीर सूखे और जले चमड़े की भाँति हो गया है। ग्यारह वर्ष मौन धारण करके बैठे रहे थे। बहुत ऊँचे महात्मा। राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री जी पिछली बार मेरे साथ गंगोत्री में गए, तो स्वामी रामानन्द जी को छोड़कर और कोई महात्मा उन्हें अच्छा नहीं लगा। इन्हीं स्वामी रामानन्द के पास मैं गया। उन्हें देश की अवस्था सुनाई और बताया कि लोग कितने दुःखी हैं। अमरीका और रूस की बातें सुनाईं। अन्तर्राष्ट्रीय खींचातानी की कथा सुनाई। एक बार, दो बार, तीन बार मैं उनके पास गया। घण्टा-दो-घण्टा उन्हें बातें सुनाता रहा। वे सुनते रहे और चुपचाप बैठे रहे। कोई भी उत्तर उन्होंने नहीं दिया। अन्त में तंग आकर एक दिन इनके पास गया। वे गंगा के किनारे एक बड़े पत्थर पर बैठे थे। मैंने जाकर फिर उनसे बात कहनी प्रारम्भ की। वे फिर चुप। मैंने कहा, 'स्वामी जी! इतने दिनों से मैं आपको संसार की अवस्था सुना रहा हूँ, परन्तु आप ऐसे चुप रहते हैं, जैसे यह पत्थर। आपको सुना दिया और इस पत्थर को सुना दिया, दोनों एक बराबर हैं। क्या आप कोई उत्तर नहीं दे सकते?' स्वामी रामानन्द धीरे से मुस्कराए। मैंने कहा—'अब कृपा करो!' तब उन्होंने हाथ से संकेत किया, आँखें मूंद लीं। थोड़ी देर बाद आँखें खोलकर बोले—'कहो आनन्द स्वामी!' मैंने कहा—'आपको मेरा नाम कैसे ज्ञात हो गया? मैंने तो कभी बताया नहीं और कोई मुझे जानता नहीं?' वे बोले कि 'हम यहाँ काहे को बैठे हैं? इतने वर्ष हो गये यहाँ बैठे-बैठे, क्या तेरा नाम भी नहीं जान सकते?' मैंने कहा, 'मैं यह प्रार्थना करने आया हूँ कि बहुत तप कर लिया आपने। अब नीचे चलिये, संसार का कल्याण कीजिये।' वे बोले, 'नहीं, ऐसा नहीं करेंगे। आनन्द स्वामी! यह संसार बहुत बिगड़ गया है। कपड़े मैले हो जाएँ

तो इन्हें धोया जाता है। रोगी वैद्य के पास आता है। वैद्य बिना बुलाए रोगी के पास क्यों जाए ? तेरे यत्न करने से संसार सुधरेगा नहीं। इसे एक बहुत बड़ी भट्टी में जाना है। जाने दो इसे। तू मुझे नीचे चलने को कहता है। मैं कहता हूँ तू भी न जा नीचे। यह है गंगोत्री के महात्माओं का दृष्टिकोण।

परन्तु मैं जिस महापुरुष को अपना गुरु मानता हूँ उसने तो यह बात मुझे नहीं सिखलाई। गंगोत्री के एक भाग में वह कन्दरा देखी जहाँ परम योगी महर्षि दयानन्द ने घोर तप किया था। धराली से पौने दो मील के अन्तर पर गंगा के किनारे है वह कन्दरा। धराली के नम्बरदार श्री नारायणसिंह ने वह कन्दरा मुझे दिखाई और बताया कि उनके पिता ठाकुर शिवसिंह ने स्वामी जी को देखा था, उनकी सेवा की थी। स्वामी जी को भोजन देने के लिए ठाकुर शिवसिंह स्वयं जाया करते थे। नारायणसिंह ने यह भी बताया कि इस कन्दरा में महर्षि ने एक बार तीन मास की समाधि लगाई थी। इतना-कुछ करने के बाद भी, योगाभ्यास के इस ऊँचे स्तर पर पहुँचने के बाद भी वे नीचे आए, जिससे कि संसार को सत्यमार्ग बतला सकें; अन्धकार में भटकते हुए संसार को प्रकाश की ओर ले जाएँ।

मैंने स्वामी रामानन्द जी से कहा कि 'मैं तो उस गुरु का शिष्य हूँ। मुझे तो आराम से बैठना नहीं है। आप नहीं जाते तो आपकी इच्छा, परन्तु मुझे जाना है।' वे बोले—'तू जा, मार टक्करें, परन्तु कोई सुनेगा नहीं। संसार अभी सुनने की अवस्था में नहीं है।' और कई बार मैं सोचता हूँ कि उनकी बात कितनी सच्ची थी ! वास्तव में यहाँ कोई नहीं सुनता। इस समय रात है। आप लोग काम-काज से छुटकारा पाकर थोड़ी देर के लिए यहाँ आ गए, किन्तु यदि मैं कहूँ कि प्रातः ४ बजे मेरे पास आइये, मैं आपको प्रभुदर्शन का मार्ग दिखाऊँगा, तो सम्भवतः कोई आएगा नहीं।

किन्तु कोई सुने या न सुने, कोई माने या न माने, यदि हम

ईश्वर को 'देव' कहते हैं तो हमें स्वयं भी दूसरों को देना होगा। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज का यह नियम बनाया—'प्रत्येक को अपनी उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' महर्षि जी के महत्त्व को हम समझ नहीं सके। अभी इन्हें हुए केवल सौ वर्ष बीते हैं। सहस्र वर्ष के बाद सम्भवतः संसार उनकी महिमा को समझेगा, जब उसको मालूम होगा कि महान् कल्याणकारी बात महर्षि ने इस छोटे-से वाक्य में लिखी। उसके बिना कल्याण का कोई मार्ग नहीं है। केवल अपनी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं होना, दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझना—इतनी बड़ी बात है कि संसार इसे समझ ले और अपना ले तो समस्त आर्थिक खिचावों का अन्त हो जाए। मोटरवाला समझे कि मेरे पास यदि मोटर है तो मेरे पड़ोसी के पास भी होनी चाहिए। पदाधिकारी समझे कि यदि मैं उच्च पद पर हूँ तो दूसरों को भी ऊँचे उठाना चाहिए। तब झगड़ा कहाँ रहेगा? ईर्ष्या, घृणा तथा खिचाव कहाँ रहेगा? और आर्थिक संकट कहाँ रहेंगे जो सदा ही कुछ वर्ष बाद संसार को लड़ाई की ओर धकेल देते हैं?

(उस समय स्वामी जी ने अपनी घड़ी को देखा तो कहने लगे—'शेष रह गए हैं दस मिनट। दस मिनट में एक बात बताकर मैं समाप्त कर दूंगा, फिर कीर्तन होगा।'

गायत्री मन्त्र का अन्तिम भाग है—'धियो यो नः प्रचोदयात्'। 'धी' का अर्थ है बुद्धि, ज्ञान, सोच और विचार। किन्तु क्या केवल 'ज्ञान' का नाम 'धी' है? 'गोपथ ब्राह्मण' में 'धी' का अर्थ किया है—बुद्धि, कर्म, मेधा। बुद्धि में जो बात आए उसे कर्म में लाना, उसको प्रयोग में लाना। 'धी' का वास्तविक अर्थ यह है कि यदि मैं परमात्मा को 'भूर्भुवः स्वः' कह रहा हूँ तो मुझे स्वयं भी यत्न करना होगा कि मैं दूसरों के प्राणों की रक्षा करूँ। उनके दुःखों को दूर करूँ। उनको सुख देने का यत्न करूँ।

गायत्री के जाप की विधि [illegible]

उसके अनुसार आचरण भी करो। ऐसा करने से ही मन्त्र सिद्ध होता है। यह सभी फल देता है, जिसका मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ।

गायत्री का जाप कैसे करना चाहिए, यह अगली बार बताऊँगा।

मौद्गल्य और ग्वाल मैत्रेय की बातचीत सुनाने का प्रण किया था। वह भी सुनाऊँगा। तब आपको पता लगेगा कि गायत्री मन्त्र कितना महान् है। महर्षि दयानन्द से पहले जन-साधारण को इस मन्त्र के जपने का अधिकार न था। उस समय एक भ्रम था कि देवियों को इस मन्त्र के जपने का अधिकार नहीं; उन्हें इस मन्त्र का जाप नहीं करना चाहिए। यह भ्रम सम्भवतः इसीलिए उत्पन्न हुआ कि देवियों में श्रद्धा विशेष होती है। साधुओं और पण्डितों ने समझा कि पुरुष पहले ही हमारी बात को नहीं सुनते, देवियों को भी गायत्री मन्त्र से समझ आ गई तो फिर उनकी सेवा कौन करेगा? उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कौन खिलाएगा? किन्तु यह भ्रम तो सर्वथा निर्मूल है। महर्षि ने बताया कि मन्त्र सबके लिए है, सबका इससे कल्याण होता है, स्त्री हो या पुरुष, बच्चा हो या बूढ़ा, सबके लिए कल्याण का देनेवाला है।

छठा दिन

प्यारी माताओ तथा सज्जनो!

ज्यों तिल माँहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझमें बसे, जाग सके तो जाग॥

प्रभु को ढूंढने के लिए बाहर तो जाना नहीं पड़ता, केवल जागना पड़ता है। कई लोग पूछते हैं परमात्मा कहाँ रहता है? कैसे इसके दर्शन होते हैं? और कुछ लोग जो जाग नहीं सकते,

किसी वैद्य के पास जाता है। वैद्य उसे देखकर कहता है—'यह लो चन्द्रप्रभा बूटी, एक गोली प्रातः खाओ और एक गोली सायं-काल।' रोगी पूछता है—'कब तक खाऊँगा?' वैद्य कहता है—'जब तक रोग निवृत्त न हो जाए।' यही दशा इस मन्त्र की है। तब तक जाप करना पड़ता है इस मन्त्र का, जब तक मन का रोग दूर न हो जाए। जब तक रोग है, तब तक तो ओषधि खानी ही पड़ेगी; और कोई मार्ग नहीं, और कोई विधि नहीं। गायत्री एक बूटी है—ऐसी बूटी जो इच्छाओं के और पाप के विष को नष्ट कर देती है।

साँप और नेवले की लड़ाई सम्भवतः आपने कभी देखी हो। परन्तु इनकी वास्तविक लड़ाई जंगल में होती है। तीव्र विष से पूर्ण विषैला साँप नेवले के सामने आकर खड़ा हो जाता है। नेवला इसपर झपटता है। अगले दाँतों से और नखों से उसको लहूलुहान कर देता है; किन्तु साँप के पास भी तो एक शस्त्र है। उस तीव्र विष की पूरी शक्ति से नेवले को डस लेता है। नेवला जानता है कि विष का प्रभाव होते ही वह मरेगा; बचेगा नहीं। अतः वह लड़ाई छोड़कर जंगल में भाग जाता है। एक बूटी का इसे पता है। उसे खोजता है, अपने शरीर के डसे भाग को उसके साथ रगड़ता है। बूटी के प्रभाव से विष प्रभाव-रहित हो जाता है। साँप को लड़ने के लिए वह फिर से ललकारता है, फिर उसे लहूलुहान करता है; साँप फिर डसे तो नेवला फिर जंगल में भागता है कि विष के प्रभाव को दूर कर आए। इस प्रकार वह बार-बार करता है। साँप बार-बार डसता है। नेवला बार-बार बूटी से रगड़कर विष के प्रभाव को दूर कर देता है। अन्त में साँप के विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है। डसने पर नेवले को कुछ होता नहीं। तब वह अपने तीखे दाँतों से साँप के टुकड़े-टुकड़े करके रख देता है।

इस प्रकार हमारे अन्दर भी लगातार एक देवासुर-संग्राम होता रहता है। पाप-भावना और पुण्य की भावना, विषय-

भावना और मोक्ष की भावना, इन दोनों में युद्ध होता है। इस युद्ध से बचने का कोई साधन नहीं। इस युद्ध को देखकर मनुष्य चकित हो पूछता है—'क्या करूँ?' तब जाननेवाला इसको उत्तर देता है—

विष का विषधर जब डसे, ओ३म् जड़ी को चबा।
है नागदमन यह ओषधि, ढूँढन दूर न जा॥

जब काम की अग्नि जल उठे, जब काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार तुम्हें कुमार्ग की ओर ले-जाने के लिए तुम्हारे अन्दर विष भर दें, तब 'ओ३म्' का जाप करना। यह देवासुर-संग्राम शान्त हो जाएगा। विष का अन्त हो जाएगा। साँप के विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। बार-बार इस प्रकार करोगे, तो कामनाओं का विष समाप्त हो जाएगा। चित्त की वृत्तियों पर विजय प्राप्त हो जाएगी। एक सौ आठ वृत्तियों को जो जीत लेता है, उसी को १०८ कहते हैं। जो अधिक बड़ा योगी और महात्मा हो, जिसने अधिक वृत्तियों पर विजय प्राप्त की हो, उसे १००८ भी कहते हैं। किन्तु यह विजय मिलती है केवल इस बूटी से, ओ३म् की बूटी से और गायत्री की ओषधि से।

कुछ लोग पूछ सकते हैं कि गायत्री को इतना महत्त्व क्यों देते हैं? गायत्री को ही जड़ी क्यों कहते हैं? इसलिए कि कामना-रूपी सर्प का विष दूर हो सके। उसके विषय में मैंने आपको अपना अनुभव बताया। उपनिषद् के ऋषियों का अनुभव बताया। गायत्री में चौबीस अक्षर हैं और ये चौबीस अक्षर कुछ इस प्रकार रख दिए गए हैं कि मन के अन्दर इन्हें बोलने के साथ शरीर के अन्दर एक विचित्र-सी झंकार उत्पन्न होने लगती है। वीणा के तारों में से एक तार हिला देने से जैसे शेष तार हिल उठते हैं; एक तार को छेड़ देने से जैसे शेष तारों में झंकार जाग उठती है, वैसे ही गायत्री मन्त्र के जाप से भी शरीर में सारे मर्म-स्थानों में जाकर चोट लगती है। इस बात का ज्ञान जन-साधारण को नहीं होता। गायत्री का प्रभाव

कहाँ-कहाँ पर होता है—इसका पता उस समय लगता है, जब लगातार जाप करने के अनन्तर मनुष्य योग की अवस्था में पहुँचता है और योगाभ्यास के द्वारा उस पद को प्राप्त होता है, जहाँ प्रत्येक जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न रूप से दिखलाई देते हैं। उस समय बाहर का यह शरीर भूल जाता है। बाह्य संसार भूल जाता है। अन्दर प्रत्येक स्थान पर प्रकाश ही प्रकाश दीखता है ; इस प्रकाश में प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता स्पष्टतया प्रकट होने लगती है। क्या होता है उस समय, इसका थोड़ा-सा वर्णन आपके सामने रखता हूँ। योगाभ्यास करते हुए योगी जब ध्यान की पहली परिपक्वावस्था में पहुँचता है, तो सबसे पहले बाहर का शरीर भूल जाता है। बाहर के शब्द सुनाई नहीं देते हैं, बाहर की वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं ; अन्दर ही अन्दर विचित्र प्रकार के रूप दिखाई देते हैं, शब्द सुनाई देते हैं, सुगन्ध आती है, रस का अनुभव होने लगता है। शब्द की ओर ध्यान दो तो ऐसा प्रतीत होता है कि दूर कहीं किसी पहाड़ की चोटी पर ढोल बज रहा है। दूर कहीं कोई अत्यन्त मधुर बाँसुरी पर राग अलाप रहा है। निर्झरों के झरने का शब्द सुनाई देता है। मेघ गर्जना करते हुए प्रतीत होते हैं—कभी तीव्र कड़कड़ाती हुई ध्वनि में, कभी धीमे मधुर स्वर में। कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दूर कहीं पर कोई गान कर रहा हो। क्या गाता है, यह ज्ञात नहीं होता, केवल ध्वनि का ही बोध होता है। रूप का ध्यान करो तो विचित्र ही प्रकाश दिखाई देता है जैसे दीपक जल रहा हो, जैसे बिजली का वल्ब जगमगाता हो, कभी जैसे एक जुगनू हो, दूर पर एक तारा हो, कभी सूरज चमकता हो, करोड़ों सूरज एक-साथ चमक उठें हों, कभी इस प्रकार कि सहस्रों बिजलियाँ एक-साथ चमक उठी हों। ऐसी अवस्था में योगी कई बार डर से काँप उठता है। घबराकर आँखें खोल देता है। सुगन्धि का ध्यान करो तो ऐसी-ऐसी सुगन्धियाँ आने लगती हैं जो कि बाहर की किसी भी वस्तु में नहीं ; इतनी मधुर, इतनी मीठी

कि उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता। इस प्रकार दूसरी वस्तुएँ भी अनुभव में आती होंगी। किन्तु यह सब-कुछ आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है, प्रकृति है। वास्तव में जो कुछ दिखाई देता है वह जड़ है, चेतन नहीं है। कुछ लोग ऐसी वस्तुओं को देखकर समझने लगते हैं कि हो गया कल्याण, हो गए प्रभु के दर्शन। किन्तु ऐसा समझना तो ठीक नहीं। आत्मा को देखना हो तो अभी और आगे चलना पड़ता है। जब ये वस्तुएँ दीखने लगें तब रुक नहीं जाना। अभी आगे चल, ध्यान की दूसरी परिपक्वावस्था में ; दूसरी श्रेणी में पहुँच। वहाँ पहुँचकर पंचतन्मात्रा 'अहमस्मि' (अहंकार) दिखाई देने लगती है। प्रकाश के रंग-विरंगे गोलक जिनके कारण से आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा चर्म अपना कार्य करते हैं। इतना सुन्दर रूप है इनका। कई-कई साधक घण्टों इन्हें देखते रहते हैं। आकाश, जल, अग्नि, वायु, पृथिवी के प्रतिनिधि वनकर वे चमकते रहते हैं। किन्तु वे भी तो आत्मा नहीं। वे भी प्रकृति हैं, जड़ हैं। इससे भी आगे चल। तभी 'अहंकार' का दर्शन होता है। चमकती हुई ज्योति सवको अपनी ओर खींचती हुई, सबको अपना प्रकाश देती हुई ; परन्तु वह भी आत्मा नहीं है, प्रकृति का एक रूप है। इससे आगे जाकर ध्यान की तीसरी अवस्था में 'अस्मिता' का दर्शन होता है। इसको महत्तत्त्व भी कहते हैं जिससे यह सृष्टि वनी। इसके अन्दर प्रविष्ट होकर प्रतीत होता है कि प्रकृति क्या है। कोई रूप नहीं, कोई गन्ध नहीं, कोई अनुभव नहीं। यह प्रकृति का पहला विकृत रूप है, वह अवस्था जिसमें कुछ नहीं होता। तव ध्यान की चौथी परिपक्वावस्था आती है। यहाँ प्रकृति का वास्तविक रूप अन्तरात्मा देखती है। जव ध्यान की पाँचवीं अवस्था आती है, तव ब्रह्म-ज्योति के दर्शन होते हैं। ऐसी ज्योति कि अरवों सूर्य भी जिसके सामने तुच्छ हो जाते हैं। अवर्णनीय है ! वह परम-आनन्द है। कोई भी योगी उसका वर्णन नहीं कर पाया। ध्यान की इस अवस्था में पहुँचकर ज्ञात

होता है कि जड़ क्या है, चेतन क्या है; आत्मा क्या है, प्रकृति क्या है। शरीर और शरीर के अन्दर आत्मा कहाँ बैठा है, यह स्पष्टतया प्रतीत होता है।

और ये सब-की-सब श्रेणियाँ, ध्यान की ये सब अवस्थाएँ उस मनुष्य को मिलती हैं, जो इस गायत्री मन्त्र की उपासना करता है। उसकी वीणा जब गायत्री की झंकार से गूँज उठती है, तब सब किवाड़ खुलने लगते हैं। गायत्री की चोट प्रत्येक स्थान पर पहुँचकर मन के मैल को स्वच्छ करती चली जाती है। गायत्री से वह बुद्धि मिलती है, जिसे 'प्रज्ञा' कहते हैं, जो 'ऋतं-भरा' है। 'प्रज्ञा' और 'ऋतम्भरा' शब्द आपको कठिन प्रतीत होंगे, इसलिए इनका अर्थ आपके सामने रखता हूँ। बुद्धि वह ज्ञान है जो सचाई के वास्तविक रूप का रहस्य प्रतीत होगा। आप कहेंगे सचाई तो सचाई है, इसका वास्तविक तथा अवास्तविक रूप क्या? किन्तु यह बात ठीक नहीं। सचाई का भी वास्तविक तथा कृत्रिम रूप है। सचाई बदलती रहती है। 'ऋत' उस सचाई का नाम है जो कभी नहीं बदलती। आपकी घड़ी में आठ बजे हैं। किसी ने पूछा—'भाई! समय क्या है? आपने कह दिया—'आठ बजे हैं।' आधे घण्टे के बाद उसने पूछा—'समय क्या है?' आपने कह दिया—'साढ़े आठ बजे हैं।' दोनों बार आपने सच बोला, परन्तु सच बदल गया। 'ऋत' वह वास्तविक सत्य है जो कभी बदलता नहीं। उदाहरण-रूप में हम कहते हैं—'आग जलाती है।' यह केवल सत्य ही नहीं, किन्तु 'ऋत' भी है, क्योंकि आग आज भी जलाती है, आज से लाखों-करोड़ों वर्ष पहले भी जलाती थी। कलियुग हो या सतयुग, बूढ़ा हो या जवान, भारत हो या अमरीका, आग के जलाने का गुण नहीं बदलता। इसलिए बुनियादी (मौलिक) सचाई को जो बुद्धि जानती है उसे कहते हैं 'ऋतम्भरा' अर्थात् ऋत से भरी हुई; ऐसी वास्तविकता को जाननेवाली जो कभी बदलती नहीं। बुद्धि जब 'ऋतम्भरा' हो जाए, वास्तविक सचाई को जाननेवाला हो

जाए, तब वह कभी कोई अयुक्त निर्णय नहीं करती। यह 'ऋतं-भरा' बुद्धि गायत्री मन्त्र के जाप से मिलती है।

अब 'गोपथ ब्राह्मण' में आई एकादशाक्षी मौद्गल्य और ग्वाल मैत्रेय की उस बातचीत को सुनिये जिसमें गायत्री की महिमा एक दूसरे रूप में दिखाई गई है। एकादशाक्षी, जिसकी ग्यारह आँखें खुली हों, ऐसे मौद्गल्य से ग्वाल मैत्रेय ने पूछा—'महाराज! गायत्री में जो 'सविता' शब्द आया है, इसे जो 'भर्गो देवस्य' कहा है और इससे जो प्रार्थना की है कि तू हमारी बुद्धि को प्रेरणा कर, अब प्रश्न है कि क्या वास्तव में वह 'सविता' प्रेरणा करता है?' मौद्गल्य ने उत्तर दिया—'हे मैत्रेय! वेद, छन्द अर्थात् आनन्द के साधन हैं। आनन्द को ऋषियों ने 'अन्न' भी कहा है क्योंकि आत्मा उस आनन्द के लिए वेद के पास आता है। जब तक यह न मिले तब तक भूखा रहता है। उस आनन्द-रूपी अन्न को पाने का साधन जहाँ वर्णन किया गया, वहाँ स्पष्टतया कहा है कि सविता 'धी' को—बुद्धि को—कर्म की ओर करता है।

ग्वाल मैत्रेय ने पूछा—'हे ग्यारह आँखों वाले! सविता क्या है और सावित्री क्या है?' मौद्गल्य ने उत्तर दिया—'मैत्रेय! मन सविता है और वाणी सावित्री है। मन प्रेरणा करता है तो वाणी बोलती है। अग्नि सविता है, पृथिवी सावित्री है। जो कुछ इससे माँगो वही देती है। आम की गुठली बोओ तो आम देती है। मिर्च का बीज डालो तो उसी स्थान पर मिर्च भी देती है। नीम भी इससे होता है, गन्ना भी, सोना भी और चाँदी भी इसमें है; लोहा और पत्थर भी। इसका हृदय फोड़ो, कुदाल लेकर इसको खोदो तो वह पानी भी देती है—मधुर-मीठा पानी। किन्तु यह सब-कुछ इसे देने के लिए अग्नि कहता है। अग्नि इसमें प्रेरणा न करे तो फिर कुछ नहीं होता। इसी प्रकार 'वायु' सविता है और यह ऊपर विस्तृत 'आकाश' सावित्री है। 'आदित्य' सविता है और 'नक्षत्र' सावित्री। 'चन्द्रमा' सविता है, 'अन्न' सविता है और 'रात्रि' सविता है। 'मेघ' सविता है और 'वर्षा' सावित्री है।

विद्युत् 'सविता' है और उसकी 'कड़क' सावित्री है। जो इन जोड़ों को जान लेता है, वह पूरे एक सौ सोलह वर्ष तक सुख, आनन्द और भलाई के साथ जीवित रहता है।' इसका अभिप्राय क्या है ? ये जोड़े क्या हैं ? वास्तव में यह विज्ञान की बात है। मौद्-गल्य ने जो कुछ कहा वह यह है कि सविता शक्ति ने केवल सृष्टि के प्रारम्भ में ही काम नहीं किया, अपितु आज भी वह करती है। भिन्न-भिन्न रूपों में यह शक्ति दूसरी वस्तुओं को प्रेरणा करती है। जो मनुष्य इस विज्ञान को जान लेता है, गायत्री की उपासना करके ध्यान में लीन होकर जो देख लेता है कि कौन वस्तु किसको प्रेरणा करती है, उसके लिए इस संसार के रहस्य प्रकट हो जाते हैं। जब ये रहस्य प्रकट हो जाएँ तब मनुष्य पूरे एक सौ सोलह वर्ष तक प्रत्येक प्रकार के सुख और आनन्द को भोगता हुआ जीवित रह सकता है।

आप पूछेंगे—'आनन्द स्वामी ! तूने इन रहस्यों को जान लिया है न ? तो क्या एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहेगा ?' नहीं मेरे भाई ! इस प्रकार सब-कुछ ज्ञात नहीं होता। विज्ञान की पुस्तक पढ़ लेने से कुछ प्राप्ति नहीं होती; प्रयोगशाला में ही अनुभव करने पर प्राप्ति होती है। ध्यान की प्रयोगशाला में जाकर यह बोध होता है कि यह 'सविता' क्या है और 'सावित्री' क्या है, मेघ और विद्युत् क्या है, वर्षा और गर्जन क्या है। इन सब बातों को जानने के लिए ध्यान में जाना पड़ता है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में गायत्री के तीन भागों में से प्रत्येक भाग का भिन्न-भिन्न फल बताया गया है। ऐसा कहा है उसमें कि गायत्री के इन तीन भागों से तीन लोकों में, तीनों वेदों और प्रत्येक प्रकार के जीवन में जो कुछ भी है उसे गायत्री का उपा-सक प्राप्त कर लेता है। किन्तु यह प्राप्त कर लेना केवल गायत्री को पढ़ लेने से तो नहीं होता ! ध्यान में जाकर गायत्री के प्रत्येक भाग पर विचार करना पड़ता है। कहाँ-कहाँ किस-किस वस्तु का सम्बन्ध है—यह समझना पड़ता है। तब प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति

होती है। प्राप्त न हो सके, ऐसी कोई भी वस्तु बनी नहीं। परन्तु पहले समाधि-अवस्था में जाना आवश्यक है।

परन्तु ये सब कठिन बातें हैं। इन्हें बहुत लम्बा नहीं करना है। केवल 'सविता' की बात कहना चाहता हूँ कि वह मनुष्य के कल्याण के लिए निरन्तर प्रेरणा करती है। इसकी ध्वनि सुनने से कल्याण होता है। मनुष्य सीधे मार्ग पर चलता है। इसे भुला देने पर कोई काम भी नहीं होता। आजकल आप देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए कितने साधन होते हैं! कितने ढंग प्रयोग में लाये जाते हैं! कितनी बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं! परन्तु हर बात उलटी पड़ती है। हर ढंग पहले से अधिक अशान्ति उत्पन्न कर देता है। यह बात यदि होगी नहीं तो और क्या होगा! भटक जो गया संसार! सुमार्ग को खो जो दिया इसने! सविता को भुला जो दिया इसने! सविता को भुलाने से कल्याण नहीं होता, केवल विनाश होता है।

अब सुनिये कि गायत्री की उपासना कैसे करनी चाहिए?

जब कोई गायत्री की उपासना करना चाहता है, उन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है जो निश्चित रूप से गायत्री माँ प्रदान करती है, तो उसके हृदय में सबसे पहले एक प्रबल इच्छा होनी चाहिए। प्रारम्भ में मन नहीं लगता। तब इसे बाँधकर लगाना पड़ता है। इसको बाँधने के लिए प्रबल इच्छा का होना आवश्यक है। छोटे बच्चे पढ़ने के लिए जाते हैं। प्रारम्भ में पाठशाला में जाने के लिए इनकी इच्छा नहीं होती। कई बार बहाना करके कह देते हैं—'माँ! पेट में पीड़ा होती है।' मैं भी जब बच्चा था तो ऐसे बहाने किया करता था। परन्तु मेरी माताजी तो जानती थीं कि इसे पीड़ा काहे की है। पूछतीं कि पेड़े की पीड़ा होती है या बर्फी की? मैं कहता—'पेड़े की।' वे पेड़े मँगवा देतीं। मैं खाकर चला जाता। प्रारम्भ में मन को बाँधना पड़ता है। तीव्र प्रबल इच्छा से ही वह बन्धन में आ सकता है; और यह इच्छा प्रबल है या नहीं, इसका ज्ञान इस बात से होता है कि जो कुछ हम चाहते हैं,

उसके अतिरिक्त किसी और वस्तु के लिए इच्छा न हो। घर, परिवार, सब-कुछ अच्छा होने पर भी ऐसे प्रतीत हों जैसे कहीं पर कोई बहुत बड़ी त्रुटि है। ऐसा प्रतीत हो कि चित्त उदास है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। महर्षि दयानन्द ने इस अवस्था को मोक्ष की इच्छा का नाम दिया है और कहा है कि मोक्ष की इच्छा वह है जिसके उत्पन्न होने के बाद और कुछ भी अच्छा न लगे और कहीं भी शान्ति की प्राप्ति न हो। जगद्गुरु शंकराचार्य ने इस अवस्था को उस मछली की अवस्था से उपमा दी है जो जल के बिना व्याकुल हो रही हो। मछली को पानी चाहिए, और कुछ भी नहीं। संसार की सारी सम्पत्ति, समस्त कीर्ति उसके सामने रख दो, पर किसी वस्तु से उसकी व्याकुलता न्यून न होगी—

गंगा, यमुना, सरस्वती, हैं जल से भरपूर।
तुलसी चातक के लिए, स्वाति बिना सब धूर॥

चातक के विषय में प्रसिद्ध है कि वह आकाश से गिरनेवाले स्वाति-जल को छोड़कर और कुछ पान नहीं करता। गंगा, यमुना और सरस्वती हैं, दूसरे नदी-नालों में अरबों टन पानी प्रतिक्षण बहता जा रहा है, परन्तु चातक के लिए वह पानी पानी नहीं; धूल है। उसको केवल स्वाति की एक बूँद चाहिए। ऐसी अवस्था जब हो जाये, जब जाप न हो तो मन व्याकुल-सा रहे ; ऐसा प्रतीत हो कि आज कोई बात अवश्य रह गई है, तब समझना चाहिए वह प्रबल इच्छा विद्यमान है जो गायत्री की उपासना में सफलता पाने के लिए सबसे पहली आवश्यक वस्तु है।

दूसरी आवश्यक वस्तु यह है कि जिस स्थान पर बैठकर जाप किया जाए वह अच्छा हो। कैसा स्थान अच्छा होता है—इसके विषय में महर्षि दयानन्द के ये वचन सुनिये! 'सत्यार्थप्रकाश' में वे कहते हैं—

"जब उपासना करना चाहें, तब एकान्त शुद्ध प्रदेश में जाकर आसन लगाकर प्राणायाम कर, बाहर की बातों से इन्द्रियों को

रोक, मन को नाभि में, चित्त में, कण्ठ में, आँखों में, शिखा में या पीठ की बीच की हड्डी में किसी स्थान पर टिकाकर आत्मा और परमात्मा को समझाकर मग्न हो जाने से अपने-आप को वश में करें।" एकान्त शुद्ध देश का अभिप्राय है कि आपके घर का ऐसा भाग जहाँ कोलाहल नहीं होता है ; जहाँ आत्म-चिन्तन तथा प्रभु के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता ; या फिर कोई जंगल जो शुद्ध तथा पवित्र है जहाँ निर्मल जल बहता हो ; जहाँ किसी प्रकार का कोलाहल न हो ; जो नगर और जनता की भीड़ से परे हो; ऐसे स्थान पर जाप करने से और गायत्री के अर्थ को समझकर कार्य करने से गायत्री की उपासना सफल होती है। एक बात याद रखिये कि गायत्री का जाप मन में करना चाहिए; केवल होंठों और वाणी से नहीं। यदि आरम्भ में मन के अन्दर मन्त्र न बोला जाए तो होंठों से बोलने में हानि नहीं, किन्तु होंठों से शब्द नहीं निकलना चाहिए। इस प्रकार बोलना चाहिए कि सर्वथा समीप बैठा हुआ मनुष्य भी उसे न सुन सके। इस प्रकार जाप करने का फल क्या होता है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि लिखते हैं—

"जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। प्रतिदिन अपने ज्ञान और विज्ञान को बढ़ाकर वह मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ पहर में एक घड़ी भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा ही उन्नति को प्राप्त होता है।"

आगे चलकर वे फिर कहते हैं—

"जैसे शीत में ठिठुरा हुआ मनुष्य आग के पास जाने से सर्दी से बच जाता है, जैसे इसके लिए सर्दी नहीं रहती, वैसे ही ईश्वर के समीप जाने से सब मल और दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार जीवात्मा के गुण और कर्म पवित्र हो जाते हैं।

इसलिए परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना अवश्य ही करनी

चाहिए। इससे आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पहाड़-जैसा दुःख आने पर भी घबराएगा नहीं। सबको सहन कर सकेगा।"

ऋषि के इन ऊपर के शब्दों में कितना सार है, कितनी सचाई है—यह तो साधना और उपासना करनेवाला ही कोई व्यक्ति जान सकता है। धन्य हो दयानन्द! कितने अनुभव की बात कह दी तुमने! और सुनो मेरे भाई! ऋषि को यह अनुभव एक दिन में नहीं मिला था, अट्ठाईस वर्ष तक घोर तप तपा उन्होंने गंगोत्री की कन्दरा में, नर्मदा के तट पर, पहाड़ों की कन्दराओं में। कितने ही स्थानों पर बैठकर वे तप करते रहे। तब जाकर उन्होंने इन बातों को लिखा। एक और स्थान पर वे कहते हैं—

"वहाँ उत्तर काशी आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छे हैं, किन्तु व्यापारियों के लिए वहाँ पर वाणिज्य है।"

और मैंने भारतवर्ष में घूमकर देखा कि ऋषि की बात सोलह आने सच है। उत्तर काशी और गंगोत्री में सत्य ही ध्यान में सहायता मिलती है। परन्तु जो वाणिज्य करना चाहते हैं वे तो वहाँ भी व्यापार ही करते हैं। कई भाई पूछते हैं कि योगी और ध्यानी गंगोत्री को क्यों पसन्द करते हैं? लो सुनो, इसका कारण भी बताए देता हूँ।

गंगोत्री में इतना सन्नाटा होता है कि कोई भी शब्द वहाँ सुनाई नहीं देता; केवल गंगा की ध्वनि ही है, इस प्रकार गूँजती हुई जैसे कोई विशाल गम्भीर धुन में 'ओ३म्' कह रहा हो। मेघ वहाँ गर्जते नहीं, बिजली वहाँ कड़कती नहीं। वर्षा भी इस प्रकार होती है, जैसे सन्नाटे को थामकर नीचे आ रही हो। केवल थोड़े-से महात्मा थोड़ी-सी कन्दराओं और कुटियाओं में रहते हैं। वहाँ न हैं सिंह, न चीते, न मच्छर, न खटमल। सायंकाल से पूर्व वहाँ इक्का-दुक्का यात्री भी गंगा के इस पार आ जाते हैं। उधर केवल गंगा की ध्वनि ही रह जाती है और गंगा की सभी धाराएँ एक-साथ एक बड़े गड्ढे में गिरती हैं। गौरीकुण्ड कहते हैं इसे। प्रसिद्ध यह है—वहाँ बैठकर माता पार्वती ने कई वर्ष तक ध्यान

लगाया था। इस कुण्ड के अन्दर लगातार गिरती हुई गंगा की ध्वनि, लगातार उठती हुई ओ३म् की ध्वनि-सी प्रतीत होती है। वहाँ यदि चित्त नहीं लगेगा तो और कहाँ लगेगा! किन्तु गंगोत्री की बात छोड़िये। मैं यह कह रहा था कि गायत्री-जाप के लिए एकान्त, शुद्ध, स्वच्छ-सुथरा स्थान होना चाहिए। कई माताएँ कहेंगी—आनन्द स्वामी! तूने सम्भवतः समझा है कि हम सबके पास बँगले और कोठियाँ हैं, हालाँकि हममें से कई लोगों का सारा घर ही एक कमरा है। इसी में सोना, इसी में खाना बनाना, इसी में बच्चे, इसी में पति है, तब शान्त-एकान्त स्थान कहाँ मिलेगा? क्या तू हमारे घर में उथल-पुथल मचाना चाहता है? नहीं मेरी माताओ! उथल-पुथल मचाने की इच्छा नहीं है मेरी।

लखनऊ की एक बात आपको सुनाता हूँ। एक देवी मेरे पास आई। मुझसे उसने गायत्री के जाप की विधि पूछी। मैंने कहा—"प्रातः तीन बजे स्नान आदि से शुद्ध होकर जाप किया करो।" तीसरे दिन वह मेरे पास आई; बोली—"मेरे पति ने मुझे घर से निकाल दिया है।" मैंने आश्चर्य से कहा—"घर से, क्यों?" उसने बताया—"घर में केवल दो कमरे हैं। एक कमरे में सब

मिलता है वैसे ही स्थान पर जाप करो, स्नान करना तो छोटी बात है।"

परन्तु क्या करें, हमारे देश में कई छोटी-छोटी बातें ही बड़ी-बड़ी बातें बन गई हैं और बड़ी बातों को भुला दिया गया है। अब प्रयाग के कुम्भ के मेले को देखिये। मेला होता था इसलिए कि लोग साधु और महात्माओं से ज्ञान की बातें सुन सकें। यह बात तो भुला दी गई। स्नान करना ही कुम्भ के मेले पर जाने का वास्तविक उद्देश्य हो गया। एक विशेष स्थान पर ही स्नान करना चाहिए—इस भ्रम ने कितने ही मनुष्यों की जान ले ली। उन्होंने समझा कि स्नान करने से मुक्ति होती है। ढाई हज़ार की तो मुक्ति हो गई वहाँ।

नहीं, छोटी बात को बड़ी बनाने का प्रयत्न नहीं करना। इसके लिए बड़ी बात को छोड़ नहीं देना। जो जैसा हो, वैसे ही जाप करे। मैं किसी के घर में उथल-पुथल मचाने नहीं आया हूँ। मैं आनन्द स्वामी हूँ, दुःख स्वामी नहीं हूँ। कई मनुष्य कहते हैं कि ऐसी अवस्था में भजन कैसे हो सकता है? उन्हें एक बात सुनाता हूँ—

एक था किसान। नए कुएँ के पास गद्दी पर बैठा बैलों को चला रहा था। बैल चलते थे, पानी कुएँ से बाहर आता था। कुएँ में लगी हुई माला नीचे जाती थी और वह पानी लेकर ऊपर आती थी। इससे चीं-चीं की ध्वनि होती थी। एक मनुष्य अपने घोड़े को पानी पिलाने के लिए वहाँ आया। परन्तु घोड़ा चीं-चीं की ध्वनि से डरा, पीछे हट गया। उस आदमी ने उस घोड़े को फिर आगे किया; परन्तु वह फिर डरा और पीछे हट गया। घोड़ेवाला घोड़े की लगाम पकड़कर खड़ा हो गया। कुछ देर बीत गई तो किसान ने पूछा—'भाई! क्या बात है?' घोड़ेवाले ने कहा—'घोड़े को पानी पिलाना है।' किसान ने कहा—'तो पिलाओ न!' घोड़ेवाला बोला—'घोड़ा इस चीं-चीं की ध्वनि से डरता है। यह बन्द हो जाए तो इसे पानी पिलाऊँ।' किसान

ने हँसकर कहा—'अरे भोले मनुष्य ! यदि यह चीं-चीं बन्द हो गई, तो पानी भी बन्द हो जाएगा। घोड़े को पानी पिलाना है तो इसी चीं-चीं में पिला लो, नहीं तो घोड़ा प्यासा रह जायेगा।'

सुनो मेरी माताओ तथा सज्जनो !

यदि कोई दूसरा स्थान न मिले तो घर और बच्चों की चीं-चीं में ही जाप करो। मन के घोड़े को पानी पिला लो, नहीं तो फिर समय नहीं मिलेगा।

अब जाप के विषय में तीसरी बात सुनो ! तीसरी आवश्यक बात है आसन। आसन का अभिप्राय है शरीर की वह अवस्था जिसको बदले बिना ही अधिक देर तक आप सुख से बैठ सकें। साधारण आसन है पद्मासन—पालती मारकर बैठना; पाँवों को, टाँगों के ऊपर करके। एक दूसरा आसन है सुखासन। इसमें केवल पालती मारी जाती है, पाँव चाहे ऊपर हों या नीचे। किन्तु कई मनुष्यों के लिए तो पालती मारना भी कठिन होता है। कई लोग कहते हैं, 'हमारे घुटने भी पीड़ा करते हैं।' कई कहते हैं, 'हमारी कमर में पीड़ा होने लगती है।' ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि जाप करने के लिए पालती मारना आवश्यक नहीं। आसन का अभिप्राय केवल पालती मारकर बैठना नहीं है। जिस प्रकार से भी तुम अधिक-से-अधिक काल तक सुखपूर्वक बैठ सको, वही तुम्हारा आसन है। और कुछ न हो सके तो शवासन में शव (मुर्दा) की तरह लेट जाने से भी काम चल जाता है। ऐसा करना हो तो कपड़े के छल्ले से दोनों पाँवों के अँगूठे आपस में जोड़कर बाँध देने चाहिएँ, जिससे कि वे हिलते न रहें। कमर में एक कपड़ा बाँधकर हाथ इसके अन्दर कर लेने चाहिएँ। बन जायेगा मुर्दा (शव), यह शवासन है। या, कोई भी दूसरा आसन हो उसको करें।

वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि पीठ और ग्रीवा दोनों एक ही सीध में रहें; पीठ और ग्रीवा एक सीध में रखना इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना उन आठ चक्रों में

ध्यान नहीं लगाया जा सकता, जहाँ मन को स्थिर किए बिना ठीक रीति से जप नहीं होता। नीचे जहाँ रीढ़ की हड्डी समाप्त होती है वहाँ मूलाधार चक्र है और सिर में तालु के ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र या ब्रह्म-चक्र। इन दोनों के बीच छः दूसरे चक्र हैं जिनके विषय में आपको पहले सुनाया था। प्रारम्भ में ध्यान लगाने के लिए सबसे अच्छा स्थान 'आज्ञा-चक्र' है—दोनों आँखों के बीच वह स्थान जहाँ से नाक प्रारम्भ होती है। किन्तु अनेक व्यक्ति आज्ञा-चक्र में ध्यान लगाते हैं तो उनका सिर दुखने लगता है। उन्हें चाहिए कि वे आज्ञा-चक्र के स्थान पर अपने हृदय में ध्यान लगाएँ जहाँ दोनों स्तनों के मध्य गढ़ा-सा है। आज्ञा-चक्र को ध्यान लगाने का सबसे अच्छा स्थान कहा गया है। यह इसलिए कि वहाँ गंगा, यमुना, सरस्वती की तरह इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा की तीन नाड़ियाँ मिलती हैं। सुषुम्णा रीढ़ की हड्डी से होती हुई नीचे से ऊपर तक आती है। इससे निकल अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ समस्त शरीर में फैली रहती हैं। इड़ा और पिंगला इसके दायें-बायें चलती हुईं आज्ञा-चक्र में उसके साथ मिल जाती हैं। यह वास्तविक प्रयोग है, जहाँ ज्योति का ध्यान करना चाहिए या फिर 'ओ३म्' शब्द का। जैसे कोई कागज़ पर लिखता है, इसी प्रकार ध्यान से इस स्थान पर 'ओ३म्' लिखो, लिखने के थोड़ी देर बाद वह मिट जाएगा। तब फिर लिखो। बार-बार वह मिट जाएगा। बार-बार लिखो। अन्त में ऐसी अवस्था आएगी कि वह मिटेगा नहीं। जब कभी आँख बन्द करोगे, तभी 'ओ३म्' दिखाई देगा। यह आज्ञा-चक्र वह स्थान है; जहाँ आत्म-दर्शन के मार्ग पर जाने का आदेश-पत्र (परमिट) मिलता है। आज्ञा का अर्थ है पासपोर्ट (पारपत्र)। चक्र का अर्थ है कार्यालय। यह पासपोर्ट देने का कार्यालय है, जहाँ 'ओ३म्' का शब्द धीरे-धीरे ज्योति का रूप धारण करने लगता है। जब यह जाग्रत हो उठे, तब इतना आनन्द मिलता है कि भक्त कुछ सुनना नहीं चाहता। भूल जाना चाहता है वह सब-

कुछ। पुकार के कहता है मत बुलाओ मुझे! इस आनन्द में डूब जाने दो! जब यह अवस्था आ जाए तो संकल्प करना चाहिए कि मेरा संसार के साथ, परिवार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। केवल मैं हूँ और मेरे भगवान् हैं, शेष तो किसी की आवश्यकता इस समय नहीं रहती। वे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। वे स्वामी है, मैं उनका दास हूँ। वे मेरे प्रियतम हैं, मैं उनका चाहनेवाला प्रेमी हूँ।

कई लोगों का कहना है कि अपने-आपको स्त्री मानकर और भगवान् को पति मानकर ध्यान लगाने से शीघ्र ही सफलता मिलती है, किन्तु किसी भी रूप में ध्यान लगाओ, उस समय भूल जाओ कि तुम्हारा और भी कोई है। ऐसे अनुभव करो कि मैं हूँ और मेरे भगवान् और तीसरा कुछ भी नहीं है।

जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाए तो जाप प्रारम्भ करो—हृदय से नहीं कर सकते तो होंठों से करो। परन्तु तुम्हारा शब्द किसी को सुनाई न दे; चाहे तो माला अपने हाथ में ले लो। माला केवल गिनती रखने के लिए है और यह गिनती कई बार आवश्यक होती है। ऐसा लिखा है कि एक दिन में पच्चीस हज़ार गायत्री का जाप करने के पश्चात् मन स्वयं ही खड़ा हो जाता है; वश में हो जाता है। आसन के द्वारा भी मन वश में होता है। यदि मनुष्य तीन घण्टे और छत्तीस मिनट तक एक ही आसन से हिले बिना, कष्ट बिना, आँख झपके बिना बैठ सके तो उसका मन भी खड़ा हो जाता है। मन को वश में करने के लिए ये स्थूल उपाय हैं। जो मनुष्य कहते हैं कि मन वश में नहीं होता, जिसके विषय में लोगों की धारणा है कि—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन के मते न चालिए, बिलख-बिलख मन रोय॥

मन को वश में करने के लिए इस सरल ढंग को अपनाकर देखिये। जिस प्रकार मेघ में विद्युत् चमकती है, इसी प्रकार मन भगवान् की ओर संकेत करेगा, उसकी ओर चलेगा। मन की

यह बिजली बहुत शक्तिशाली है। साधारण बिजली ही बहुत शक्तिशाली है। बिजली से आप प्रकाश करते हैं, पंखे चलाते हैं, मशीनें चलाते हैं। बम्बई में मकानों के अन्दर बिजली के लिफ्ट लगे हैं। बिजली से बड़ी-बड़ी रेलें-ट्रामें दौड़ती हैं। बुद्धि से बिजली वश में कर ली जाए तो इतने काम करती है वह। इनसे अधिक भी काम करती है। परन्तु वही बिजली नियन्त्रण से बाहर हो जाए तो नाश और विध्वंस भी कर देती है। कई-कई विशाल अट्टालिकाओं को जलाकर भस्मसात् भी कर देती है। यह मन भी ऐसा ही है। कई दिनों से आपने इसको नियन्त्रण से बाहर कर रखा है। जब बुद्धि के साथ इसको वश में करो, तो यह वहाँ पहुँचेगा जहाँ आपको जाना है—

मन पंछी तब लग उड़े विषय-वासना माहिं।
ज्ञान-बाज की झपट में जब लग आया नाहिं॥

ज्ञान का बाज़ क्या है? वह बुद्धि जिसे परमात्मा ने प्रेरणा दी हो, जो अपने-आपको परमात्मा के अर्पण करके उसकी प्रेरणा से चलती हो। इसलिए गायत्री में एक ही प्रार्थना है—हमारी बुद्धि को अपनी ओर ले चल।

अन्त में एक बार फिर यह कह देना चाहता हूँ कि जाप मन से करना चाहिए। प्रारम्भ में यदि न भी हो तो अन्त में मन से जो बात कही जाए, उसका अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसे जाप को मानसिक जाप कहते हैं।

अब एक और बड़े महत्त्व की बात आपको बताने लगा हूँ—वह विधि कि जिससे एक सप्ताह के अन्दर ही गायत्री में मन लगने लगेगा। विधि यह है कि अपने को बाँध लीजिए। आप कहेंगे कि यह अच्छी विधि है! किन्तु देखो, कठिन नहीं है। वेद में, गीता में, उपनिषदों में, और योगदर्शन में मन को वश करने की एक बहुत सरल विधि बताई गई है कि मनुष्य प्रत्येक दशा प्रसन्न रहने की अपनी प्रकृति बना ले। मन यदि प्रसन्न हो तो सरलता से टिकता है। फिर बहुत यत्न करना नहीं

पड़ता। परन्तु इस सीधी-सी और सरल-सी बात को हम प्रायः करते नहीं। नौकर ने प्याली तोड़ दी। हम उसको भी गालियाँ दे रहे हैं। अपना चित्त भी जला रहे हैं। अरे! आठ आने की प्याली टूट गई तो टूट गई, तुम अपना करोड़ों रुपये का मन क्यों तोड़ देते हो? ईश्वर को कहते हो 'सत्, चित्, आनन्द'—आनन्दस्वरूप, आनन्द का भण्डार। उसे मिलना है, तो हमें भी अपने अन्दर आनन्द पैदा करना होगा, सर्वदा प्रसन्न रहने का स्वभाव डालना होगा। याद रक्खो—

कुनद हमजिन्स बा हमजिन्स परवाज़।
कबूतर बा कबूतर, बाज़ बा बाज़॥

जो मनुष्य अपने-जैसे को मिलना चाहता है, वह मिल जाता है। जुवारी सौ कोस का फेर मारकर भी जुवारी को जा मिलता है। तुम प्रसन्न रहोगे तो आनन्द से भगवान् भी शीघ्र ही मिलेंगे। आपने रामायण तो पढ़ी है या सुनी है, इसमें भगवान् राम की एक-एक दिन की बात लिखी है। परन्तु क्या कहीं यह भी लिखा है कि श्री राम को कभी इन्फ्लूएन्ज़ा हुआ? कभी मलेरिया हुआ? कभी ज़ुकाम हुआ? क्यों? इसका उत्तर यही है कि वे सदा प्रसन्न रहते थे। महर्षि वाल्मीकि ने नाम ही दिया है 'सदा प्रसन्न राम।'

मन प्रसन्न रहे तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। प्रत्येक समय शिकायत करते रहने, प्रत्येक के दोष निकालने का स्वभाव अच्छा नहीं। वह मनुष्य के शरीर को भी अस्वस्थ बना देता है। जिसके विषय में कोई शिकायत हो, उसकी बुराई को भूलकर किसी विशेषता को याद करो। उसमें यदि सारे ही दोष हैं तो अन्त में कोई-न-कोई गुण भी तो होगा! इसका विचार करते हुए तुम प्रसन्न रहो।

एक और बात सुनो! प्रसन्न रहने का एक दूसरा ढंग भी है। यदि किसी मनुष्य की कोई बात आपको अच्छी नहीं लगती, तो उसे उसके सामने कुछ न कहो, एकान्त में जाकर प्यार से कहो।

कल यहाँ पर कोई मनुष्य आ जाए तो मुझे कहे—'आनन्द स्वामी ! तू कैसा संन्यासी है ? संन्यासी होकर भी पगड़ी पहन रक्खी है तूने ?' मैं कहूँगा—'जा, पहन रक्खी है, तुझे इससे क्या ?' परन्तु यदि वही मनुष्य एकान्त में आकर मुझे कहे—'देखो, यह पगड़ी तुम्हें अच्छी नहीं लगती ।' तो मैं कहूँगा—'यह ले भई !'

(और स्वामी जी ने सचमुच ही अपनी पगड़ी उतारकर एक ओर रख दी । सभी लोग हँस उठे । स्वामी जी कहते रहे—)

यह है प्रसन्न रहने की विधि । पति को पत्नी से, पत्नी को पति से, माँ को बेटे से, किसी को किसी से शिकायत हो तो उसे एकान्त में बुलाओ । इससे प्रसन्नता से मन एकाग्र होता है ।

अन्त में गायत्री के जाप के सम्बन्ध में एक-दो बातें और बताता हूँ । जब एक-दो वर्ष जाप करते हो जायें, तब वर्ष में एक सप्ताह या एक महीना ऐसा निकालना कि गायत्री-जाप के अलावा और कुछ न हो । ऐसा करने से ईश्वर की 'भर्ग'-शक्ति सारे पापों को, समस्त मल को जलाकर भस्म कर देगी । यह बात आवश्यक है । इसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि जितनी बार यह जाप करने का व्रत आप करें, एक बार में उसे प्रतिदिन पूरा करें । यदि कभी अस्वस्थता के कारण या किसी दूसरे कारण से कमी रह जाये तो बाद में उसे पूरा करना आवश्यक है ।

यह सब आपको क्यों बताता हूँ ? इसलिए कि यह मानवीय शरीर बार-बार नहीं मिलता । इसको पाकर भी यदि प्रभु को नहीं मिलोगे तो फिर कब मिलोगे ? पुराने समय की एक कहानी आपको सुनाता हूँ । तब लोग कश्मीर जाने के लिए मोटरों में नहीं, ताँगों पर जाते थे । रावलपिंडी में एक सेठ साहब पहुँचे । एक ताँगेवाले से बोले—'क्यों भाई, कश्मीर चलना है, कितना किराया लेगा ?' ताँगेवाले ने देखा कि सेठ धनी पुरुष है; बोला—'किराया क्या लेना है सेठ जी, ताँगे और घोड़े का जो खर्च आयेगा, वह दे देना । घोड़े को चारा दिलवा देना, आवश्यकता

पड़े तो ताँगे की मरम्मत करा देना।' सेठ जी ने कहा—'यह तो सस्ती सवारी है। चल!' सेठ गए बैठ, चला ताँगा, पहुँचा कोह-मरी में। ताँगेवाले ने कहा—'सेठ जी! आप हैं कुलीन सभ्य पुरुष। ताँगे की गद्दियाँ हो गई हैं पुरानी, आपकी शान के योग्य नहीं हैं। यदि आप कहें तो कोह मरी में दो दिन रहकर गद्दियाँ वदलवा लें।' सेठ ने कहा—'अवश्य!' बदलवाले के लिए रुपये दे दिये और गद्दियाँ ठीक हो गईं। फिर रोगन खराव लगने लगा। सेठ ने और रुपये दे दिये और कहा—'रोगन भी नया कराओ।' नया रोगन होने लगा। दो दिन के स्थान पर बारह दिन व्यतीत हो गए। पास से जानेवालों ने कहा—'यात्री, तू किस झंझट में फँस गया? अरे, आकाश में मेघ एकत्र हो रहे हैं। यदि अधिक विलम्ब करेगा तो मार्ग में ही हिमपात हो जाएगा और श्रीनगर पहुँच नहीं सकेगा।' सेठ ने कहा—'श्रीनगर मुझे जाना है अवश्य, परन्तु ताँगा तो ठीक करा लूँ।' तब और कुछ दिन वीत गए। रंग-रोगन सव-कुछ हो गया। ताँगा बन गया। निश्चय हुआ कि दूसरे दिन चलेंगे। किन्तु रात को आया तूफ़ान। वर्षा हुई वेग से। रंग-रोगन सव उतर गया। ताँगे की अवस्था बिगड़ गई। इसलिए तीसरे दिन से फिर रंग-रोगन होने लगा। ताँगेवाले ने कहा—'सेठ जी! ताँगे को रखने के लिए कोई मकान तो है नहीं। फिर तूफ़ान आ गया तो रोगन फिर खराव हो जायेगा। आप कहें तो ताँगे के रखने के लिए एक मकान वनवा लिया जाये।' सेठ ने कहा—'हाँ, अवश्य वनवाओ।' लोगों ने कहा—'यात्री, किस धन्धे में पड़ा है तू? अरे! शरद् ऋतु समीप आ रही है। श्रीनगर के मार्ग हिम से रुक जाएँगे।' सेठ ने कहा—'ठीक है किन्तु पहले ताँगा तो वन जाए।' इसी तरह कई दिन व्यतीत हो गए। तव एक भारी तूफ़ान उठा—हिम का तूफ़ान। पहाड़ और जंगल हिम से भर गए। सेठ जी श्रीनगर में पहुँच नहीं सके। माथा पकड़कर वैठ गए।

आप कहेंगे वहुत ग़लती की सेठ ने। हाँ भाई! भूल की उस

सेठ ने, परन्तु तुम वह भूल न करो! तुम्हारा यह शरीर जो किराये का ताँगा है, किराया दो तो यह चलता है, चार दिन रोटी न खिलाओ तो अन्दर से शब्द आयेगा—'निकल जाओ यहाँ से!' दो दिन पानी न पिलाओ तो रजिस्टर्ड नोटिस आएगा—'निकलो! तुम्हारे लिए स्थान नहीं।' यदि थोड़ी हवा न हो तो नोटिस तार द्वारा मिलेगा—'निकलो!' अरे! इस शरीर का स्वामी मैं कैसे हूँ? मेरा यह है नहीं; मैं तो किरायेदार हूँ, किराया देता हूँ, रहता हूँ। कभी इसमें मलेरिया आ घुसता है, कभी खाँसी-ज़ुकाम; कोई मुझसे पूछता नहीं कि अन्दर आऊँ या न आऊँ, फिर मैं स्वामी कैसे हुआ? मैं स्वामी हूँ नहीं। ए! किराया देकर इस ताँगे में यात्रा करनेवाले! याद रख, मृत्यु का हिमपात होनेवाला है। तू यहाँ ताँगे को सँवारने में, रोगन करने में और सजाने में बैठा है। वहाँ तेरी मंज़िल का मार्ग बन्द होनेवाला है। अब सचेत हो यात्री! इस पवित्र गायत्री मन्त्र का सहारा लेकर मंज़िल की ओर बढ़!

भ्रमते-भ्रमते देह-रथ, हुआ है चकनाचूर।
प्रीतम नगरी जीव रे, अभी बड़ी है दूर॥

ओ३म् शुभम्!

महात्मा आनन्द स्वामी कृत

उत्प्रेरक पुस्तकें

महामन्त्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएँ
सुखी गृहस्थ
एक ही रास्ता
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
यह धन किसका है ?
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा
दुनिया में रहना किस तरह ?
श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती (जीवनी)
" " " (उर्दू)
म हा मं त्र (उर्दू)
The Only Way (अंग्रेजी)
Gayatri Discourses (अंग्रेज़ी)

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६